भाग ४

अमृतवाणी

गूढ़ पदों के सन्देश

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

अमृतवाणी

सन्तों के गूढ़ पदों के सन्देश

पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के
मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन

भाग – 4

प्रकाशक :
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया–चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

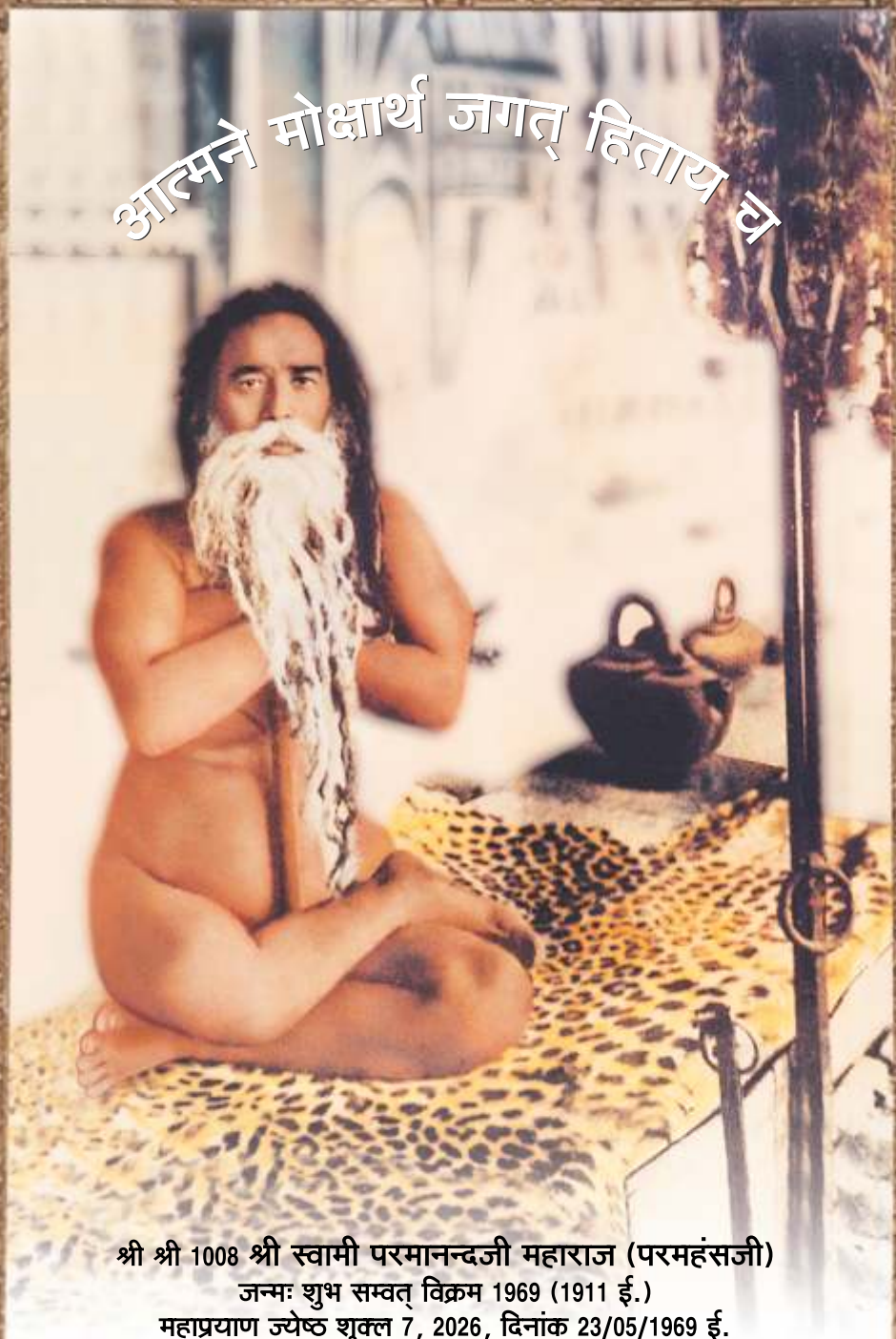

श्री श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम 1969 (1911 ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल 7, 2026, दिनांक 23/05/1969 ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

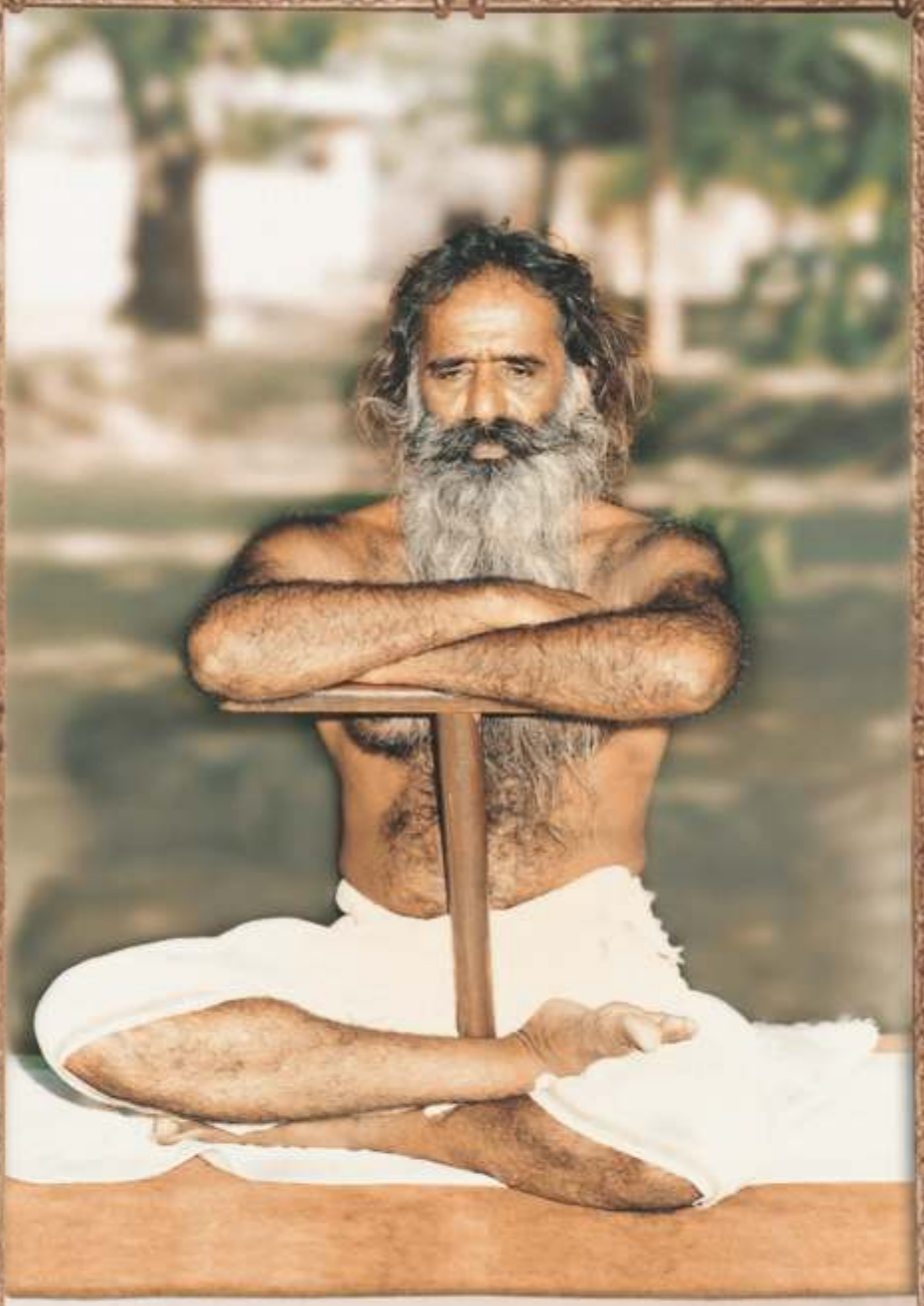

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

निवेदन

धर्मानुरागी बहनो तथा भाइयो!

ईश्वरपथ की दूरी शिक्षा के बल पर तय नहीं की जा सकती, सामाजिक उपाधियों का भी इसमें सहयोग नहीं। बिना पढ़ी-लिखी शबरी भगवान को पा गयी। जिन्हें **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'**, वे कागभुसुण्डि अपने समय के सर्वोपरि ज्ञानी निकले। परमहंस जी महाराज मात्र तीन दिन विद्यालय गये थे; किन्तु जब उनकी वाणी निकलती तो अच्छे-अच्छे विद्वानों की विद्या का कोई उपयोग नहीं रह जाता था। वे कहते थे– **'तुम कहो कागद की लेखी, हम कही आँखिन की देखी।'**। ईश्वर-पथ में ऐसे ही तत्त्वदर्शी महापुरुष कबीर थे, जो कहते थे–

मसि कागद छूयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ युग के महातम (कबीर) **मुखहिं जनायी बात॥**

(साखी, 87)

ईश्वर-पथ में श्रद्धा और समर्पण लगता है। परमात्मा के प्रति समर्पित श्रद्धावान्, संयमित इन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और तत्क्षण परमात्मा में स्थिति प्राप्त कर लेता है। (गीता, 4/39) इस पथ में भगवान स्वयं पढ़ाते हैं, आकाश बोलने लगता है। कबीर इसी स्तर के महापुरुष थे। उनकी मान्यता थी, भगवान के संरक्षण में चलते हुए मन का भली प्रकार निरोध हो जाता है–

मन को मारि गगन चढ़ि जावे, अमरित घर की भिक्षा पावे।
उजड़ा शहर बसावै.....॥

छूटे कश्मल मिले अलेखा। इन नयनन साहिब को देखा।।

यह महापुरुष एक प्रकार से गीता ही पढ़ रहे हैं (क्योंकि अन्तस्प्रेरणा में तो भगवान ही हैं।)–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।

(गीता, 5/19)

अर्जुन! उन पुरुषों द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया जिसका मन समत्व में स्थित है। भला मन के समत्व की स्थिति और संसार जीतने से क्या सम्बन्ध है? श्रीकृष्ण कहते हैं– वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर इसका मन भी निर्दोष और सम की स्थितिवाला हो गया इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही कबीर कह रहे हैं कि **'मन को मारि गगन चढ़ि जावै'**। अमृत? मृत्यु से परे अमृत तत्त्व है आत्मा। उस आत्मा के आलोक में **'अमरित घर की भिक्षा पावै।'**

'छूटे कश्मल'–सारा मलाल, सारा पाप दूर हो जाता है; **'अलेखा'** अर्थात् अनिर्वचनीय तत्त्व मिल गया। **'इन नयनन साहिब को देखा'**– भगवान दिखाई पड़े, वह दृष्टि मिली जो अर्जुन, संजय इत्यादि को मिली थी। यह प्रत्यक्ष दर्शन है। ऐसे महापुरुषों की वाणी इस पथ पर चलनेवाले पथिक ही समझ पाते हैं। वही अमृतवाणी आपलोगों के समक्ष प्रस्तुत है। आप केवल एक प्रभु का नाम जपें। थोड़े ही दिनों में आप पायेंगे कि गुरु महाराज का स्वरूप अन्तःकरण से जागृत होकर मार्गदर्शन कर रहा है।

जे जन भींगे राम रस, बिगसित कबहुँ न रुख।
अनभव भाव न दरसिया, तेहि नर सुख न दुख।।

- प्रकाशक

अनुक्रमणिका

क्रमांक	*भजन*	*पृष्ठ संख्या*
1.	जाइन मरो सारी रात	1-22
2.	मोरे सैंया निकसि गये मैं ना लड़ी	23-33
3.	गुरु ने पठाया चेला न्यामत लाना	34-52
4.	तुम चलो दिवाने देस	53-66
5.	पिवत नाम रस प्याला	67-79
6.	संतो! यह मुरदों का गाँव	80-102
7.	गइया एक बिरंचि दियो है	103-125
8.	दरस दिवाना बावला	126-147

।। ॐ ।।

जाड़न मरो सारी रात

सन्त कबीर का यह भजन ध्यान के सम्बन्ध में है। संसार भर में 'ध्यान शिविर' लगा ही करते हैं फिर भी ध्यान एक उलझा हुआ प्रश्न है। हम ध्यान कैसे करें? ध्यान किसका करें? भगवान तो कण-कण में व्याप्त कहे जाते हैं; हम किस कण को प्रणाम करें? हम किस कण के स्वरूप को हृदय में धारण करें कि भगवान पकड़ में आ जायँ? उन प्रभु के लिये श्रीरामचरितमानस में आता है कि **'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।'**– वह प्रभु बिना पैरों के चलता है, बिना कान के सुनता है, बिना शरीर के स्पर्श करता है, आँखों के बिना देखता है; अब आप ही बतायें कि हम ध्यान कैसे धरें? ऐसी परिस्थिति में केवल एक परमात्मा के प्रति दृढ़संकल्प होकर हम उन प्रभु के परिचायक नाम का जप करें। ओम् या राम – जो उस प्रभु का सीधा बोध कराता हो, ऐसे किसी एक नाम का जप करें। उनसे आप निवेदन करें– प्रभो! आप हमें देखें, रास्ता दें। यह अभ्यास करते-करते आपके और भगवान के बीच में, आपके और आपकी आत्मा के बीच में जो मल आवरण-विक्षेप का पर्दा पड़ा है जहाँ हल्का हुआ तो हृदय से ही वह आत्मा बोलने लगेगा, मार्गदर्शन करेगा और बता देगा कि सद्गुरु कहाँ हैं।

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

(मानस, 7/68/7)

विशुद्ध सन्त उसे उपलब्ध होते हैं, भगवान कृपा करके जिसे एक निगाह देख लें। जहाँ उन्होंने अनुकम्पा की तो सन्त-सद्गुरु जिस सिंहासन पर विराजमान होंगे या जिस दलदल में लोटते होंगे, या तो आप ही वहाँ पहुँच जायेंगे अथवा वे ही आपके पास आ जायेंगे। आपको विश्वास भी हो जायेगा और आगे पथ प्रशस्त भी हो जायेगा। जहाँ सद्गुरु मिल गये तो–

सदगुर मिलें जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।

(मानस, 4/17)

उस समय आपकी समझ में आ जायेगा कि ध्यान किसका धरें और कैसे धरें? पूज्य गुरुदेव भगवान के जीवन की घटना है। उन्हें बाल्यकाल से ही पहलवानी का शौक था। आरम्भ में तीन दिन ही पाठशाला गये, फिर गये ही नहीं। शिक्षा का पाठ जीवन से उठ गया। दण्ड-बैठक, कसरत में मन लगा। धीरे-धीरे उनकी गणना क्षेत्र के सुप्रसिद्ध पहलवानों में होने लगी। एक मन्दिर के बगल से वह निकले तो उन्हें आकाशवाणी हुई– 'इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं!'

उस समय रात्रि के लगभग आठ बजे रहे होंगे। भादों की रात! धुप्प अँधेरा! उसी अँधेरे में वह उस खण्डहर-जैसे मन्दिर में गये, भीतर घूमकर लौट आये। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि पता नहीं कौन हमारे पीछे पड़ा है? किसने आवाज दी कि इस मन्दिर में गुरु महाराज हैं? इसमें तो कोई नहीं है। इतने में भीतर से ही खाँसने की आवाज आयी। वास्तव में अँधेरे कोने में टाट लपेटे, पागल विक्षिप्त की तरह एक महापुरुष वहाँ बैठे थे। महाराज ने प्रकाश की व्यवस्था की, तीन दिन तीन रात सेवा में लगे ही रह गये। इसी अल्प अवधि में उन्होंने साधना का क्रम समझा और भजन में लग गये।

हमने उनसे पूछा था– ''महाराज जी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई, हमलोगों को तो नहीं हुई?'' महाराज ने कहा– ''हो! यह शंका मुझे भी थी। इस पर भगवान ने बताया– हो! मैं पिछले सात जन्म से लगातार साधु रहा हूँ। चार जन्मों तक तो मैं योंही कपड़ा पहनकर झूठे ही घूम रहा हूँ। कभी विभूति, कहीं तिलक लगाये हूँ; लेकिन रहा हूँ संयमित साधु!'' हमने जिज्ञासा की– ''यह योंही झूठे का मतलब?'' महाराज ने बताया– ''हो! उस समय योग-साधना जागृत नहीं थी। 'ध्यान किसका धरूँ?'– यह मालूम न था। लेकिन पिछले तीन जन्मों में मैं अच्छा साधु रहा हूँ जैसा होना चाहिए। उन जन्मों में भगवान मेरे हृदय से रथी थे, योग-साधना जागृत थी। पिछले जन्म में पार लग गया था, निवृत्ति हो चली थी किन्तु कुछ कुतूहल था। एक तो शादी क्या होता है, दूसरा देहाभिमान और गाँजा पीने की इच्छा, इसीलिये जन्म लेना पड़ा। जन्म लेते ही भगवान ने शादी-विवाह कराकर, सब कुछ दिखा-सुनाकर दो चटकना मारा कि यह पाप है और यह पुण्य! इस मन्दिर

में तुम्हारे गुरु महाराज! जब गुरु महाराज ही मिल गये तो शेष बचा क्या? गुरु महाराज से साधना-क्रम समझा और भजन में लग गये।''

गुरु महाराज कहा करते थे– ''हो! हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि हम साधु होंगे! मन में कभी स्फुरण भी नहीं हुआ कि साधु भी हुआ जाता है! भगवान ने हमें जबरदस्ती साधु बना लिया।'' इसलिये ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं है (गीता, 2/40) और जहाँ सद्गुरु मिले तो वह बता देते हैं कि नाम क्रमशः श्वास से कैसे जपें? इसके पश्चात् ध्यान के लिए स्वरूप सद्गुरु का ही पकड़ा जाता है और सद्गुरु के कृपा-प्रसाद से आपके अन्दर साधना जागृत हो जाती है।

साधना-जागृति का अर्थ है कि जिस परमात्मा की हमें चाह है, प्रकृति की जिस सतह पर हम खड़े हैं, हमारी पुकार ऐसी हो कि आत्मा में वह प्रभु उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायें, हमारा मार्गदर्शन करने लगें। वह हमें समझाएँ कि हम भजन कैसे करें? उस समय साधक का उठना-बैठना, चलना-सोना, खाना– सबकुछ भगवान अपने हाथ में ले लेते हैं। छोटे बच्चे का मार्गदर्शन जिस प्रकार अभिभावक करते हैं उससे भी कहीं अधिक भगवान करते हैं। आत्मा में यह जागृति जिस क्षण से होती है उस दिन से भजन जागृत हो जाता है। यह जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष से ही सम्भव है। इसीलिये पूज्य महाराज जी का कहना था– भजन-साधन न तो वाणी से कहने में आता है और न लिखने में आता है। कबीर इसी स्थिति के सन्त थे। उन्होंने एक पद में सम्बोधित किया–

गये हजारों लोग चितचोर चाह तेरी करते करते।
पर न मिला दीदार कूच कर गये ध्यान धरते धरते॥

हजारों लोग चाह करते-करते, आहें भरते-भरते चले गये किन्तु उन्हें भगवान का साक्षात् नहीं हुआ। उनकी साधना कैसी थी?–

पंडित कवि कोविद रहे अनजान शास्त्र पढ़ते पढ़ते।
बेद पुरान कुरान हुए हैरान बयां करते करते॥
पर न मिला.....॥

कोई कहे हम पक्के हिन्दू शिखा सूत्र धारण करते।
कोई कहे हम मुसलमान दाढ़ी पर अकड़े फिरते।
आपस में दोउ लड़कर मर गये राग द्वेष करते करते॥
पर न मिला.....॥

कोई पण्डित, कोई कवि, कोई प्रकाण्ड विद्वान् हो गये; शास्त्रों को पढ़ डाला लेकिन अनजान ही रह गये। वेद, पुराण, कुरान उस परमेश्वर का वर्णन करते-करते हैरान हो गये। किसी-किसी ने अपने को हिन्दू कहा और धर्म का परिचय दिया कि यह शिखासूत्र देखो! कोई कहता है– हम पक्के मुसलमान हैं, हमारी दाढ़ी देखो! ये दोनों आपस में लड़कर मर गये। इन्हें ढूँढ़ना था भगवान को, यह आपस में ही संघर्ष कर बैठे। इन्हें भी परमात्मा का दर्शन नहीं हुआ। फिर परमात्मा मिलेगा कैसे?–

सतगुर की जब दया हुई, अनेक जन्म साधन करते।
लखा दिया एक पल में, जिसे चार वेद वर्णन करते॥

सद्गुरु की उपलब्धि कई जन्मों की साधना का परिणाम है। अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप जहाँ सद्गुरु मिले, एक ही पल में साधना जागृत हो गयी। ज्योंही महापुरुष का दर्शन हुआ, श्रद्धा की डोर लगी, यदि सद्गुरु हैं तो साधना तुरन्त आपके हृदय में जागृत हो जायेगी। जब भजन जागृत हो जाता है तभी समझ में आता है कि मैं ध्यान कैसे धरूँ? किसी डकैत या कत्ल करनेवाले का आप ध्यान धरें, चार दिन में ही आप में भी वैसे ही भाव उदय होने लगेंगे। यदि आप किसी कामी का ध्यान धरते हैं तो वासनाओं का वातावरण आपके मस्तिष्क में छा जायेगा। इसीलिये परमतत्त्व जिन्हें विदित है, जिनके लिए शरीर केवल रहने का मकान मात्र है, जो स्वरूपस्थ हैं ऐसे सद्गुरु से साधना जागृत होने और उन्हीं महापुरुष का ध्यान धरने का विधान है। सन्त कबीर अपना संस्मरण सुनाते हैं–

पाछे लागा जाइथा, लोक वेद के साथ।
आगे थै सतगुरु मिल्या, दीपक दीन्हा हाथ॥

हम धर्म के प्रत्याशी अवश्य थे, इसीलिये हम लोकरीति और वेदरीति के पीछे भाग रहे थे। पूरी भीड़ जा रही थी, मैं भी उन्हीं के साथ भागा जा रहा था। कबीर कहते हैं– मैं भी उसी रास्ते में था; किन्तु आगे से सद्गुरु मिल गये। उन्होंने मेरे हाथ में दीपक पकड़ा दिया कि इससे रास्ता दिखेगा! वह सद्गुरुओं का दीपक कैसा है?–

दीपक दीन्हा हाथ में, वस्तू दई लखाय।
कोटि जनम का पन्थ था, पल में पहुँचा आय॥

वस्तु का अर्थ सामग्री नहीं! सृष्टि में जो कुछ है नश्वर है। सत्य है, शाश्वत है, नित्य है तो केवल आत्मा।

सत्य वस्तु है आतमा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार॥ *(बारहमासी)*

शाश्वत, सत्य, नित्य, सनातन, काल से अतीत, अविनाशी पुरुष केवल आत्मा है। जगत् का पट-प्रसार नश्वर है। यह आज है तो कल नहीं रहेगा। यह पानी के बुलबुले की तरह बनता-फूटता ही रहता है। इसलिये सद्गुरु ने जब हाथ में दीपक दिया तो सत्य वस्तु को दिखा दिया, आत्मतत्त्व का साक्षात् करा दिया। इसे लोग करोड़ों जन्मों में प्राप्त कर पाते हैं लेकिन यदि सद्गुरु उपलब्ध हो गया तो **'पल में पहुँचा आय'**।

इसी ध्यान पर सन्त कबीर का यह भजन है– **'जाड़न मरो सारी रात।'** वस्तुतः परमतत्त्व परमात्मा एक ऐसा धरातल है जहाँ शोक नहीं, मोह नहीं, सन्देह नहीं, जन्म नहीं, मृत्यु नहीं। वहाँ संसार की शीतलहरियाँ पहुँचती ही नहीं; संयोग-वियोग की लहरें वहाँ पहुँचती ही नहीं। उसी नित्य और शाश्वत धाम में अपनी स्थिति व्यक्त करते हुए वह कहते हैं–

हम झिनवा ओढ़िन।
जाड़त मरो सारी रात रे! हम झिनवा ओढ़िन।
पहले दही जमा ले बन्दे, पीछे दुहिये गाय।
बछड़ा वाके पेट में, अरु माखन हाट बिकाय॥
रे हम झिनवा.....

चिंउँटी चली आपने नैहर, नौ मन तेल लगाय।
हस्ती मार बगल तर दाबिन, ऊँट लियो लटकाय॥
रे हम झिनवा.....

एक चींटी के मूतले सन्तो, नदी नार बह जाय।
बड़े बड़े पण्डित गोता मारैं, केवट नाव चलाय॥
रे हम झिनवा.....

सास कुँआरी बहू लड़कोरी ननद दरेरा खाय।
देखनहारहिं के बेटवा भइले, लिये परोसिन जाय॥
रे हम झिनवा.....

कहत कबीर सुनो भाई साधो, यह पद है निरबान।
जो या पद का अर्थ विचारे, सोई संत सुजान॥
रे हम झिनवा.....

सबका जाड़ा तो रजाई ओढ़ने से जाता है, लेकिन कबीर कहते हैं– हमने तो झिनवा, बहुत झीना कपड़ा मलमल ओढ़ लिया और जाड़े से मुक्त हो गये और जिसने नहीं ओढ़ा वह जाड़े से सारी रात मरता रहा। वास्तव में जो पुस्तक के शीर्षक में होता है उसी का विस्तार उसकी पंक्तियों में होता है। कबीर का यह मौलिक साधनापरक पद है। भाषाविदों ने इसे यह कहकर टाल दिया कि यह तो कबीर की उलटवाँसी है। उलटवाँसी का आशय लोग लेते हैं कि जिसमें विरोधाभासी उक्तियाँ हों, जिसके बहुत से अर्थ हों। आप जो अर्थ कहें वह सही और हम अन्यथा कहें वह भी सही!– यह कोई अर्थ हुआ? अर्थ उसे कहते हैं जो हमें सम्पूर्ण अनर्थों से बचा ले और प्रशस्त पथ पर खड़ा कर दे। कबीर एक महापुरुष थे, कोई भाँड़ तो थे नहीं कि लोक रिझाने के लिये अनर्गल कविताएँ रचते फिरे। महापुरुषों के पास इतना समय कहाँ है। हँसी-विनोद के लिए भी उनके पास समय ही कहाँ है। क्योंकि–

हँसी खुशी सन्यासी खोवै, सधुवै खोवै दासी।
आलस्य नींद किसाने खोवै, चोरहिं खोवै खाँसी॥

कबीर पूर्ण महापुरुष थे। वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, सूर, तुलसी, नानक इत्यादि महापुरुष, जैसा कि अनादिकाल से होते आये हैं उन्हीं की परम्परा में सन्त थे। उस वैदिक तत्त्व को, साधना की गहराइयों को उन्होंने छिपाकर प्रस्तुत किया जिससे साधक लोग ग्रहण कर लें और पथ पर चलें तथा अनधिकारी उसका दुरुपयोग न कर सकें। इसी सन्दर्भ में कबीर कहते हैं–

जाड़न मरो सारी रात।

पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने से रात-दिन होता ही रहता है; किन्तु कबीर का आशय इस रात्रि से नहीं है। आध्यात्मिक परिवेश में यह संसार ही रात्रि के तुल्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। *(गीता, 2/69)*

अर्जुन! इस जगत्रूपी रात्रि में सारा जीव-जगत् निश्चेष्ट पड़ा है किन्तु संयमी पुरुष इसमें जग जाता है। ज्यों-का-त्यों यही आशय गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में-

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।

(मानस, 2/92/2-3)

मोहरूपी रात्रि में सभी लोग सो रहे हैं। लोग रात-दिन जो दौड़-धूप करते हैं मात्र स्वप्न देखते हैं। इस जगत्रूपी रात्रि में योगी जग जाते हैं। वही कबीर कहते हैं– '**जाड़न मरो सारी रात! हम झिनवा ओढ़िन।**'– हमने तो झीनी ब्रह्म-चदरिया ओढ़ ली। झीना अर्थात् सूक्ष्म, बारीक! ब्रह्म झीना है। वह कण-कण में व्याप्त है। वह सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी-पाताल, जड़-चेतन, लोहे-पत्थर की ठोस चट्टानों में अविरल प्रवाहित है। जहाँ वह प्रभु नहीं है वहाँ सृष्टि नहीं है। वह जीवनीशक्ति के रूप में सर्वत्र प्रवाहित है किन्तु दिखायी नहीं देता। वह इतना झीना है कि सबके आर-पार वही है लेकिन दिखायी नहीं देता। आज तक कोई यंत्र बना ही नहीं कि उसको ढूँढ़ ले।

पानीहू से पातरा, आसमान से झीन।
पवनहू से उतावला, दोस्त कबीरा कीन॥

भगवान हैं कैसे? पानी से भी पतले; आकाश से भी सूक्ष्म, व्यापक! द्रुत गति से चलने का उदाहरण वायुवेग से दिया जाता है। कबीर कहते हैं कि यह तो कुछ भी नहीं है। पवन से भी अनन्त गुना उतावला, सर्वत्र व्याप्त को कबीर ने दोस्त बना लिया। वह है एक परब्रह्म परमात्मा हरि! वह इतना सूक्ष्म है कि सर्वत्र व्याप्त है फिर भी दिखायी नहीं पड़ता; क्योंकि वह अचिन्त्य है, अगोचर है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह है तो, लेकिन आपके दर्शन, स्पर्श और स्थिति के लिए नहीं है। इसीलिए महापुरुष लोग शान्त एकान्त में बैठकर इस चित्त का ही निरोध करने में प्रवृत्त होते हैं और निरोध कर लेते हैं। हमने उस अति सूक्ष्म ब्रह्म चदरिया को कवच के रूप में ओढ़ लिया। उस परमात्मा के अंतराल में हमने स्थान पा लिया जो अति सूक्ष्म है, झीना है। संसार के संयोग-वियोग की शीतलहरी वहाँ नहीं पहुँचती। तुम मरो! तो क्या सब मरते ही रहेंगे? कबीर कहते हैं– नहीं! 'सारी रात'– जब तक रात्रि और रात्रि की परिधि है तब तक किसी-न-किसी रूप में जाड़ारूपी सन्ताप भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न उठता है– आपने उस झिनवे को कैसे प्राप्त कर लिया? उसका तरीका क्या है? संत कबीर कहते हैं–

पहले दही जमा ले बन्दे पीछे दुहिये गाय।

पहले ध्यानरूपी दही को जमा लें। चित्त विचारों की लहर है। यह सदैव हिलता-डुलता रहता है, सन्न-सन्न भागता रहता है, वायुवेग से गतिशील है। बहुत से लोगों को रात दो-दो बजे तक नींद नहीं आती, नींद की दवा खाकर सोते हैं। चित्त के अन्दर एक उद्वेग पैदा हो जाता है। अनुकूल वातावरण में चित्त प्रफुल्लित तो प्रतिकूल वातावरण में आँसू दिखायी देता है। इस भागदौड़ करनेवाले अशान्त चित्त को सब ओर से समेटकर पहले ध्यानरूपी दही जमा लें। दही तो दूध का जमता है, पानी का नहीं। '**संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।**' *(मानस, 1/6)*– वे सन्त हंस हैं

जो ईश्वरीय गुणरूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं और विकाररूपी वारि का त्याग कर देते हैं। इस ईश्वरप्राप्ति की जो साधना है उन ईश्वरीय गुणधर्मों को पहले ग्रहण करें। गुणों के आ जाने पर उनके द्वारा अभ्यास करें और चित्त को अचल स्थिर खड़ा कर दें, पहले ध्यानरूपी दही जमा लें।

'**पीछे दुहिये गाय**'– जहाँ ध्यान की स्थिति बँधी तहाँ इन्हीं गो माने मनसहित इन्द्रियों के अन्तराल से ब्रह्मपीयूष फूट पड़ेगा। परमात्मा कैसे कण-कण में व्याप्त हैं? कैसे सर्वत्र सहायता करता है? कैसे उठाता-बैठाता, चलाता-फिराता, संचालन और मार्गदर्शन करता है?– इस प्रकार प्रभु अपनी विभूतियों का चित्रण करने लगते हैं। जब तक ध्यान में भगवान नहीं आते इन्द्रियों का सर्वथा निरोध अपने बल से असम्भव है। बिना ध्यान के इन्द्रियाँ रुकती ही नहीं– '**तुलसिदास बस होहिं तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै।**'

बछड़ा वाके पेट में, अरु माखन हाट बिकाय।
रे हम झिनवा...

ध्यान में जहाँ जमावट आयी, हृदय में इष्ट का स्वरूप आया तो '**बछड़ा वाके पेट में**' अर्थात् वह प्रेमास्पद प्रभु, वह ब्रह्म हृदय में प्रकट हो जाता है। जहाँ हृदय में स्वरूप आया तो महिमारूपी माखन हाट-बाजार में बिकने लगता है कि महात्मा बड़े अच्छे हैं, लगता है सिद्धपुरुष हैं, उनकी वाणी में ओज है, उन्होंने कहा तो कुछ नहीं किन्तु उनके पास जाते ही हमारा वह कार्य सिद्ध हो गया।– कबीर जब इस स्थिति में आये तो लोगों के लिए चर्चा का विषय बन गये। कबीर इन लोगों पर बिगड़े–

कबिरा कबिरा क्या करे, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर।।

'कबीर महात्मा! कबीर अच्छे! कबीर महापुरुष!'– क्या व्यर्थ की रट लगाये पड़े हो। '**सोधो सकल शरीर**'– सकल शरीर माने कई शरीर! इन सबकी शोध करो! एक तो छिति, जल, पावक, गगन, समीर– पंचभूतों से निर्मित आपका स्थूल शरीर, यह पिण्ड! इसके अन्तराल में एक सूक्ष्म शरीर

है जो मन का संसार है। इसके भी अन्तराल में कारण शरीर है। यह परमात्मा ही वह प्रशक्ति है जिसके द्वारा यह जीवनीशक्ति प्रवाहित है। आप क्रमशः इन तीनों शरीरों की शोध प्राप्त करें; किन्तु आशा और तृष्णा के रहते यह शोध पूर्ण नहीं होती इसलिये '**आशा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर।**'– इतना हमने किया है, इतना आप भी कर लें तो आप भी कबीर हैं। कबीर एक स्थिति है। कबीर व्यक्ति का नाम नहीं है। 'कायेषु वीर स कबीर।'– जो शरीरों पर विजय प्राप्त कर चुका है वही कबीर है। अर्थात् गो-दोहनवाली विभूति प्राप्त करने का अधिकार सबको है।

एक महापुरुष हुए हैं– दत्तात्रेय! सती अनसूया और अत्रि महाराज के औरस पुत्र भगवान दत्तात्रेय! वह विलक्षण सन्त थे। वह पागल, उन्मत्त और विक्षिप्त की तरह संसार में विचरण किया करते थे। किसी ने उन्हें कुछ दे दिया तो खा लिया, बहता पानी पी लिया। दो-चार उपवास उनके जीवन में आये दिन की घटना थी। जब उनके चतुर्दिक अनायास ही भीड़ लगने लगी तो उन्होंने भगवान से पूछा– ''प्रभो! हमें तो कोई नहीं जानता था। यह व्यर्थ की भीड़ क्यों है?'' भगवान ने बताया– ''ऐसा है, तुम्हारे हृदय में अब मैं आ गया हूँ इसलिये लक्ष्मीजी तुम्हारी सेवा करना चाहती हैं।'' दत्तात्रेय ने कहा– ''प्रभो! लक्ष्मीजी को विदा कर दें। हमने तो इन्हें कभी याद भी नहीं किया फिर क्यों चली आयीं? उन्हें विदा कर दें और आप मेरे हृदय में बने रहें।''

भगवान ने कहा– ''नहीं, मेरा चरण छोड़कर उन्हें कहीं ठिकाना भी तो नहीं है। जहाँ मैं रहूँगा वहाँ लक्ष्मीजी अवश्य सेवा में रहेंगी।'' दत्तात्रेय भागने लगे कि यहाँ तो भीड़ है, चलें दूसरी जगह! जहाँ वह विचार बनाते कि वहाँ जायेंगे, लक्ष्मीजी संकल्प के आधार पर वहाँ पहले से ही व्यवस्था कर देतीं। दत्त वहाँ बाद में पहुँचते, व्यवस्था पहले पहुँच जाती थी। अब दत्त भगवान ने संकल्प से विपरीत दिशा में जाना आरम्भ किया। वह संकल्प करते कि पूरब जायेंगे और पश्चिम निकल जाते। इससे दो-एक दिन तो शान्ति रहती किन्तु लक्ष्मीजी वहाँ भी उपस्थित हो जातीं। फिर वही फूल-पत्ती और प्रार्थना करनेवालों की भीड़! जब वह अत्यन्त विकल होने लगे तो भगवान ने कहा–

''देखो, अब यह होना ही है। अब यह तुम्हारे लिये माया नहीं है। यह मेरी इच्छा है। अब कहीं बैठ जाओ।'' भगवान का आदेश हो गया।

दत्तात्रेय के मन में यह भाव आया कि देखें लक्ष्मीजी कैसे सेवा करती हैं? वह घूमते हुए रहने का स्थान ढूँढ़ने लगे। घूमते-घूमते उन्हें गिरनार नामक विशाल पर्वत दिखायी पड़ा। समुद्र से लगभग तीन हजार फीट की ऊँचाई तक वह चढ़ते चले गये। बब्बर शेरों से भरा-पूरा जंगल! शिखर पर उन्हें एक झरना दिखायी पड़ा। उन्होंने वहीं अपना त्रिशूल गाड़ा और बैठ गये। जूनागढ़ इत्यादि गाँव वहाँ से तीसों किलोमीटर दूर थे। पर्वत शिखर पर दत्त भगवान के बैठते ही दूरदराज के गाँववालों को स्वप्न दिखायी पड़ने लगा कि इस पहाड़ की चोटी पर कोई महापुरुष बैठे हैं। दूसरे ने कहा– हाँ, हमें दिखायी पड़ा है कि वहाँ एक झरना भी बह रहा है। तीसरे ने कहा– स्वप्न में ही हमने फल रखा, प्रणाम किया तो उन्होंने आशीर्वाद दिया। चौथे ने कहा– उन्हें हमने देखा, तीन शिर हैं। जब पाँच-सात लोगों को एक-जैसा स्वप्न मिला तो कुतूहलवश लोग पहाड़ पर चढ़ गये। वह महापुरुष वास्तव में वहाँ बैठे थे। ग्यारह हजार सीढ़ियाँ बनाकर सम्पूर्ण समाज चढ़ गया। गिरनारी टिक्कड़ आज भी वहाँ प्रसाद मिलता है।

एक महाराजा दत्त भगवान का दर्शन करने आये। उन्होंने एक ताम्रपत्र पर लिखकर अपना राज्य धूने पर चढ़ा दिया। उन महापुरुष ने कहा– ''यह क्या है?'' राजा ने कहा– ''भगवन्! हमने अपना स्टेट आपको अर्पित कर दिया।'' दत्त भगवान ने कहा– ''पगले! स्टेट लेकर हम क्या करेंगे? हम तो हैं सन्त!'' राजा ने कहा– ''भगवन्! यह राजपूत अब अपने संकल्प से पीछे नहीं हट सकता।'' दत्त ने पूछा– ''सेवा करोगे?'' राजा ने कहा– ''हुक्म करें तो शीश दे दूँ।'' दत्त ने कहा– ''शीश ही दे दोगे तो सेवा कौन करेगा! ऐसा करो, आज से तुम हमारे दीवान बनकर शासन का संचालन करो। कोई गड़बड़ी न होने पाये।'' वह राजा आजीवन तख्त के नीचे फर्श पर बैठकर दीवान की पगड़ी बाँधकर सेवा करता रहा। उसके सन्तोष के लिये एकाध बार दत्त भगवान भी वहाँ गये। अस्तु,

जहाँ लक्ष्मी झाड़ू देत हैं, शंभु करें कोतवाली।
जहवाँ ब्रह्मा भये टहलुआ, विष्णु करें रखवाली।।

तवन घर चेतिहे रे भाई!
तोहरा आवागमन मिट जाई। तवन घर.....।

भगवान आते हैं तो उनकी विभूतियाँ भी आ जाती हैं। यही है '**बछड़ा वाके पेट में**'– ब्रह्म ध्यान की स्थिति में हृदय में अवतरित हो गया। अब '**माखन हाट बिकाय**'– महिमारूपी मक्खन हाट-बाजार में बिकने लगता है। अगले पद में कहते हैं,

चिंउँटी चली आपने नैहर, नौ मन तेल लगाय।।

मन माप-तौल की एक प्राचीन इकाई थी। कहीं सोलह सेर तो कहीं चालीस सेर का मन होता था। सेर भी प्राचीन इकाई है। यह आजकल के एक किलोग्राम के लगभग था। नौ मन तेल में तो इस क्षेत्र की सारी चींटियाँ डूब जायेंगी। एक चींटी अपने नैहर चली, उद्गम की ओर चली। कहीं चींटी के भी नैहर होता है? वास्तव में यह योग के सन्दर्भ में कहा जा रहा है। योगी के स्थिर चित्त को इन महापुरुष ने चींटी की संज्ञा दी है।

भक्त प्रह्लाद की कथा प्रसिद्ध ही है। उसके पिता हिरण्यकश्यप ने एक स्तम्भ गर्म कराया और तलवार निकालकर पूछा– तेरा राम कहाँ है? क्या इस खम्भे में भी है? इसे छुओ! प्रह्लाद बच्चा ही तो था। वह थोड़ा हिचका। उसने देखा– एक चींटी खम्भे पर चढ़ उतर रही है। उसने कहा– '**मुझमें तुझमें खड्ग खंभ में, घट-घट ब्यापी राम।**' उसने खम्भा छू दिया। जहाँ छूना था कि खम्भे से भगवान प्रकट हो गये। हिरण्यकश्यप मारा गया। भक्ति की लहर फैल गई।

यह कथानक भी एक आध्यात्मिक रूपक है। हिरण्याक्ष है सुवर्णमयी दृष्टि, हिरण्यमयी प्रकृति। यह त्रय तापों की ज्वाला से जीवों को दग्ध करती रहती है। किन्तु जब भगवान सम्मुख हो जाते हैं त्रय तापों की ज्वाला शान्त हो जाती है– '**ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणम्**' *(गीता, 4/19)*। उस समय चित्त

इतना सूक्ष्म हो जाता है जितना बारीकवाली चिंउँटी। स्वाँस ही स्तम्भ है। जहाँ निरुद्ध स्वर पर आने-जाने की क्षमता आयी, इसी निरुद्ध स्वर की आड़ में छिपी सत्ता का नाम है परमात्मा, वह प्रकट हो जाते हैं। प्रेमी भक्त प्रह्लाद का उद्धार हो जाता है। इस प्रकार महापुरुष निरुद्ध चित्त को चींटी की संज्ञा देते रहे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं– चित्त तो इतना बड़ा है जितना बड़ा संसार;

तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥

(विनय-पत्रिका, 124)

लेकिन अभ्यास करते-करते ही यह समझ में आता है। चित्त है तो इतना बड़ा लेकिन ध्यानरूपी दही जिस क्षण जमा उसी समय चित्त सिमटकर इतना बारीक हो जाता है जितना बारीकवाली चिंउँटी! ऐसा संयत चित्त अपने निर्गुण स्वरूपरूपी नैहर की ओर चला।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– '**ममैवांशो जीवलोके**' *(गीता, 15/6)*– अर्जुन! यह जीवात्मा मेरा विशुद्ध अंश है। '**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।**' *(गीता, 9/17)*– मैं ही भरण-पोषण करनेवाला पिता और जन्म देनेवाली माता हूँ। मानस में है कि '**ईस्वर अंस जीव अबिनासी।**' *(मानस, 7/116/2)*– उस परमात्मा का विशुद्ध अंश यह जीवात्मा; लेकिन चित्त जहाँ ध्यान में परिणत हुआ तो इतना सूक्ष्म हो गया जितना बारीक वाली चिंउँटी। ऐसा निरुद्ध चित्त अपने उद्गम की ओर, स्वरूप की ओर चला। जिसकी हम सब सन्तान हैं उस परमपिता परमात्मा की ओर, नैहर की ओर चला।

नैहर जाते समय कुछ शृंगार चाहिए, तो '**नौ मन तेल लगाय**'– मनसहित '**नवद्वार पुरे देही**' इनमें त्यागरूपी तेल लगाकर चला। उस समय त्याग का अहंकार स्वाभाविक है कि मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ, अनुभवी हूँ, सर्वज्ञ हूँ – यह है हस्ती। हस्ती अर्थात् अपनी क्षमता। यदि इनके प्रदर्शन में साधक

उलझ गया, इन्हीं में सन्तुष्ट हो गया तो भगवान नहीं मिलेंगे इसलिए '**हस्ती मार बगल तर दाबिन**'– उस समय ज्ञानी-ध्यानी होने के अहं को मारकर, उसको मिटाकर साधक बगल कर देता है। '**ऊँट लियो लटकाय**'– यदि मन हस्ती अर्थात् अपनी शक्तियों का भान नहीं करता तो रहा कहाँ? ऊँट उर का प्रतीक है। उसने अपने उर के अन्तराल में लौ लगा लिया। ऐसे स्थिरचित्त योगी की महिमा पर प्रकाश डालते हैं–

एक चिंउँटी के मूतले सन्तो, नदी नार बह जाय।

ऐसे स्थिरचित्त योगी के मुँहतले अर्थात् मुख से जो वाणी निकलती है उससे '**नदी नार बह जाय**'– वेद, पुरान, गीता, भागवत आप्तपुरुषों की वाणी बन जाते हैं। क्यों? निरुद्ध चित्त तो शान्त, सम, स्थिर है। वह तो संकल्प ही नहीं करता। इसलिये उस महापुरुष से परमात्मा की अपौरुषेय वाणी प्रसारित होती रहती है। भगवान आगे की व्यवस्था देते हैं। साधक का कर्त्तव्य मात्र इतना है कि जो अपौरुषेय वाणी उतर रही है उसे ग्रहण करना और व्यक्त करना। उस समय उसकी बुद्धि मात्र यन्त्र होती है। बोलनेवाले तो भगवान स्वयं हैं। यही कारण है कि वेद अपौरुषेय है, परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है जबकि बोलनेवाले सौ-सवा सौ महापुरुष ही हैं। वे आत्मतृप्त, आत्मस्थित थे। इन्हीं की ओर संकेत करते हुए सन्त कबीर कहते हैं कि इनके मूतले (मुँहतले) जो शब्द निकलता है वह नदी-नाला जैसे बह निकलता है जिसमें '**बड़े-बड़े पंडित गोता मारै**'। उनकी वाणी को समझने की क्षमता सबमें नहीं हो सकती। '**पंडित**'– उस पथ के ज्ञाता उसमें डुबकियाँ लगाते रहते हैं कि इस वाणी का अर्थ यह नहीं, ऐसा भी हो सकता है और जहाँ उनकी समझ ने काम किया तो '**केवट नाव चलाय**'– कर्त्तव्यरूपी केवट नियमरूपी नौका का आश्रय लेकर भवसिन्धु में तैर चलते हैं अर्थात् संसार से पार होने की कोई युक्ति है तो उन आप्तपुरुषों की वाणी है। अन्त में सन्त कबीर कहते हैं–

सास कुँआरी बहू लड़कोरी, ननद दरेरा खाय।

सास कुमारी है, अभी उसका विवाह ही नहीं हुआ! ईश्वरपथ में स्वाँस ही सास है। अनन्त योनियों की रील इसके अन्दर प्रसुप्त है। जब जिसका क्रम आता है यह सम्बन्ध जोड़ती रहती है। यह स्वाँस सृष्टि के समस्त संस्कारों का लेखा-जोखा रखकर खड़ी है। लेकिन ध्यान का सतत अभ्यास करते-करते जब ध्यान की स्थिति बँधी निरुद्ध चित्त भी उद्गम, अपने अंशी की ओर 'नैहर' चला। अब उसका अपना निर्णय नहीं; परमात्मा प्रसारित होने लगा। चिन्तन की इस स्थिति में स्वाँस विकारों से उपराम हो जाती है। 'कु' कहते हैं दूषित को और 'अर' कहते हैं काटने को, मारने को! अब तक जो स्वाँस विकारों में प्रवाहित थी, ध्यान में भली प्रकार जमावट आने से वह विकारों से ऊपर 'ऊर्ध्वरेता' स्थिति में प्रवाहित हो जाती है। स्वाँस दूषित प्रवृत्तियों को काटकर एक परमात्मा में प्रवाहित हो जाती है उस समय '**बहू लड़कोरी**'– भाव ही बहू है। भाविक के हृदय में वह लक्ष्य उतर आता है। '**ननद दरेरा खाय**'– नेह आनन्द ही ननद है।

नेह निभाया ही सरे, छोड़े सरे न आन।
तन दे धन दे शीश दे, नेह न दीजै जान॥

नेह अर्थात् स्नेह! इसका निर्वाह करने पर ही मुक्ति सम्भव है, आपकी कार्यसिद्धि सम्भव है, इसे छोड़ने से कदापि नहीं; न ही किसी अन्य तरीके से सफलता मिल सकती है। इसलिये तन देना पड़े, धन देना पड़े अथवा शीश ही क्यों न देना पड़े, दे दें किन्तु '**नेह न दीजै जान।**' माता मीरा का कहना था कि इतना कुछ देना पड़े तो दे दें किन्तु स्नेह को बचा लें; आपको सफलता मिलेगी, कार्यसिद्धि होगी, आप स्वरूप पा जायेंगे। '**ननद दरेरा खाय**'– स्नेह में प्रवाहित नियम ही ननद है। जब स्वाँस विकारों से उपराम ऊर्ध्वरेता प्रवाहित है, जिस प्रभु की चाह थी वह भाविक के हृदय में उतर आया तो स्पष्ट है कि अब आगे विकास की आवश्यकता शेष नहीं है। आगे नियम करने की आवश्यकता नहीं रही। इसके साथ ही,

देखनहारहिं बेटवा भइले, लिये परोसिन जाय।
रे हम झिनवा ओढ़िन।

इस स्थिति को देखनेवाला कौन है? वही भक्त साधक! वह स्वयं ही ब्रह्म के रूप में परिवर्तित हो गया– '**जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**' भगवन्! आपकी कृपा से कोई-कोई आपको पाता है। जब वह पाता है तो भगवान हैं कैसे? गोस्वामी तुलसीदासजी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अंतर तैसे।। *(मानस)*

जैसे एक बूँद जल को गंगा से स्पर्श करा दिया जाय तो गंगा नाम रहेगा या बूँद? बूँद की मात्रा कम थी। वह मिट गयी। गंगा का आयतन अधिक होने से उसी का प्रवाह सबके सामने है। इसी प्रकार जीवात्मा ईश्वर का अविनाशी अंश है। इस ध्यान-क्रिया के द्वारा सतत उत्थान होते-होते जहाँ मूल परमात्मा विदित हुआ, अंश जो स्वल्प था उसी में विलीन हो गया और बृहद् ब्रह्म, व्यापक परमात्मा शेष बच रहा। इसलिये कहा जाता है कि प्रभु जब अपनाते हैं तो अपने ही स्वरूप में भक्त को ढाल लेते हैं। प्राप्ति के पश्चात् भी यदि हम अलग और भगवान अलग हैं तब तो भक्त बेचारा जीव का जीव रह गया। इसलिए '**देखनहारहिं बेटवा भइले**'– देखनेवाला ही दर्शन और स्पर्श के साथ स्वरूप में स्थित हो गया। वह ब्रह्म के स्वरूप में परिवर्तित हो गया। अब सेवक खो गया और स्वामी ही शेष बचा। इस अवस्था में भजन किस श्रेणी का होता है? इस पर कहते हैं– '**लिये परोसिन जाय**'**–** उस समय भजन परावाणी के स्तर का रहता है; किन्तु इस अवस्था का बोध कराकर परावाणी भी क्षीण हो जाया करती है। अब '**भजन हमार हरि करें, हम पायो विश्राम।**'– हम तो पेंशनियर हो गये। ईश्वर-पथ में एक ही नाम को चार श्रेणियों से जपा जाता है। उसमें सर्वोपरि चिंतन-क्रम परावाणी का है। जो श्वास का भजन नहीं जानता ऐसे साधुओं को महापुरुष अपनी कुटिया में दो रोटी भी नहीं देते थे; क्योंकि वह स्वयं तो गुमराह है और घूम-घूमकर लोगों को गुमराह ही तो करेगा। भजन और नाम-जप का उतार-चढ़ाव, चिन्तन का उतार-चढ़ाव श्वास पर है।

एक ही नाम को चार श्रेणियों से जपा जाता है– बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। बैखरी उसे कहते हैं जो व्यक्त हो जाय। जैसे– 'ओम्-

ओम्' या 'राम-राम' का उच्चारण इस ढंग से करें कि सबको सुनायी पड़े। इसका अभ्यास करते-करते जब मन में और अधिक क्षमता आ गयी तब मध्यमा अर्थात् धीरे-धीरे जपना! यह उच्चारण कण्ठ से किया जाता है। एकान्त में शान्त बैठकर कण्ठ से उच्चारण करें, हल्का-सा जीभ का सहारा दें। 'ॐ-ॐ...'– ऐसी एक रट लगा दें। उच्चारण अवश्य करें, आप सुनें भी किन्तु पास में कोई बैठा हो तो उसे न सुनायी पड़े। कभी-कभी शान्त नीरव रात्रि में झींगुर बोलता है झन्न्न्न्नन! वह दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनट तक एक धुन बाँध देता है। हम जब एकान्त में इस स्तर के भजन में बैठते थे तो झींगुर की आवाज से बड़ी प्रेरणा मिलती थी कि हमसे अच्छा तो यह भजनानन्दी है जो इतनी देर से रट लगाये पड़ा है।

मध्यमा वाणी का जप करते-करते मन में और टिकने की क्षमता आ जाने पर पश्यन्ती की अवस्था में प्रवेश मिलता है। पश्य का अर्थ है देखना। इसी से बना है विपश्यना अर्थात् विशेष रूप से देखना – चारों ओर से चित्त समेटकर स्वाँस को देखें। इस पश्यन्ती वाणी का उतार-चढ़ाव स्वाँस पर है। इसके लिये शान्त बैठ जायँ और मन को हर ओर से समेटकर स्वाँस में इस प्रकार लगायें कि कब स्वाँस अन्दर आयी, कितना रुकी, कब बाहर गयी?– इसे जानें। श्वास कितना बाहर रुकी?– उसे जानें। फिर कब अन्दर गयी?– उसे देखें? दो-चार बार इसे देखें और जब मन में यह क्षमता आ जाय तो धीरे से चिन्तन में नाम ढाल दें! अब स्वाँस अन्दर गयी तो स्वाँस में ओम्; बाहर आई तो स्वाँस में ओम् कहने की भावना करें। यदि राम जपते हैं तो स्वाँस लेते समय 'रा' और छोड़ते समय 'म' स्वाँस में कहें। जिह्वा या कण्ठ से यह नाम नहीं कहना पड़ता। जो आशय 'ओम्' का है वही राम का है। जिसकी जैसी रुचि हो, जपे। नाम को स्वाँस में ढाल दें। एक भी स्वाँस हमारी जानकारी के बिना बगैर नाम के बाहर व्यर्थ न जाने पाये। अभ्यास शनैः-शनैः उठने लगेगा। एक दिन ऐसा आयेगा कि '**जपे न जपावे अपने से आवे।**'– न तो आप जपें न मन को जपने के लिये बाध्य करें, एक बार सुरत लगा दिया तो '**रिनक-धिनक धुन अपने से उठे।**'– धुन प्रवाहित

हो जाय– ओम्-ओम्-ओम्..... बस! स्वाँस बाँस की तरह एकदम खड़ी हो जाय, नाम के अतिरिक्त दूसरा संकल्प न आये; इस प्रकार स्वाँस तैलधारावत् एक गति से आने-जाने और नाम जपने लगेगी। आप पानी गिराते हैं तो टप-टप कम या अधिक जल गिरता है; किन्तु तेल गिरता है तो एक धारा-सी बन जाती है। इस प्रकार स्वाँस जब अचल स्थिर खड़ी हो जाय, मन की दृष्टि उसमें समाने लगे इसका नाम है परावाणी। इसी को अजपा भी कहते हैं। अजप अर्थात् न जप! हम न जपें और जाप हमारा साथ न छोड़े! यह परमतत्त्व परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली है इसलिये इसका नाम परावाणी है। यह वाणी परमात्मा की प्राप्ति तक साथ देती है और इस वाणी का परिवर्तन अन्य वाणियों में नहीं होता।

इस परावाणी की परिपक्व अवस्था में '**जप मरै अजपा मरै**'– जप मर जाता है (इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जप करो ही न।)। जप कब मरता है? जब जप करते-करते अजपा की जागृति हो जाय तो जप अजपा में समाहित हो जाता है। इसी प्रकार अजपा भी मर जाता है। कब? जब अनहद की पकड़ आ जाय। हद कहते हैं सीमा को, अनहद कहते हैं असीम को। कोई दो-चार-छः घण्टा भजन करता है। यहाँ बारह-बारह घंटा तक भजन करनेवाले हैं लेकिन एक सीमा निश्चित है कि चौदह घण्टा-सोलह घण्टा! एक स्तर ऐसा भी आता है कि,

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय॥

जब तक जगें सुमिरन करते रहें, सोयें तो चरणों में लव लगाकर निद्रा-लाभ करें। सोकर उठने पर सुरत वहीं लगी मिले। जहाँ भजन धारावाही हो जाता है, माप-तौल से ऊपर आ जाता है तो यह अनहद कहलाता है। लेकिन यह स्थिति परावाणी की अवस्था में ही सम्भव है। यह अनहद भी मर जाता है। कब?–

जप मरै अजपा मरै, अनहदहू मरि जाय।
सुरति समानी सबद में, ताहि काल ना खाय॥

सुरति मन की दृष्टि का नाम है। यह मन की दृष्टि स्वाँस में शब्द देखते-देखते, शब्द में सुरत खो जाय, शब्द मात्र रह जाय, '**ताहि काल ना खाय**'– उस समय काल से अतीत, अकाल पुरुष परमात्मा जिन अलौकिक गुणधर्मोंवाला है कि किस प्रकार वह कण-कण में व्याप्त है, वह स्वयं आपमें दृष्टि बनकर खड़ा हो जायेगा और सामने स्वयं होकर बोध भी करा देगा।

इसी आशय को सन्त कबीर व्यक्त करते हैं– '**देखनहारहिं बेटवा भइले**'– चिंतन करते-करते स्वाँस विकारों से उपराम ऊर्ध्वरिता प्रवाहित हुई, तत्क्षण भाविक के हृदय में लक्ष्य उतर आया। उस समय नियम भरपूर अवस्था में है, प्रेमपूर्ण नियम का प्रवाहपूर्ण है– '**ननद दरेरा खाय**'। और इस स्थिति को देखनेवाला भक्त साधक – जहाँ भगवान ने दर्शन दिया तो '**देखनहारहिं बेटवा भइले**'– वह ब्रह्म के रूप में परिवर्तित हो गया। जहाँ उसका दर्शन-स्पर्श मिला, स्थिति मिल गयी। यह अवस्था परावाणी की परिपक्व अवस्था में आती है। '**लिये परोसिन जाय**'– परावाणी भी इस अवस्था का दर्शन कराकर शान्त हो जाती है। भजन करके ढूँढ़ें किसे? आगे कोई सत्ता बची ही नहीं, पीछे कोई विकार बचा ही नहीं तो मिटावें किसे? इसलिये अब परावाणी भी क्षीण हो गयी। अब,

हरिजन भजन भेद से न्यारा।

वह हरि का जन भजन और भेद से अलग हो जाता है, उसे अभेद स्थिति मिल जाती है। अन्त में यह महापुरुष कहते हैं कि वाणी सुनने या अटकल लगाने से यह स्थिति नहीं मिलती–

कहत कबीर सुनो भाई साधो! यह पद है निरबान।

कबीर कहते हैं कि साधो सुनो! यह पद निर्वाणी है, वाणी का विषय नहीं है, यह अनुभवगम्य है। भगवान आपमें दृष्टि बनकर और सामने स्वयं खड़े हों तब समझ में आता है। यह साधनापरक है। पहले आपको दही जमाना होगा, इन्हीं संयत इन्द्रियों से ब्रह्मपीयूष (ईश्वरीय अनुभूति) प्राप्त करना होगा, शनैः-शनै लक्ष्य की ओर बढ़ना होगा, भगवान की अनुभूतियों का सूत्रपात् होगा। स्वाँस विकारों से उपराम होने पर तत्क्षण-प्राप्ति! यह पथ

चलनेवालों, ध्यान धरनेवालों के लिये है, उनके हृदय में घटित होनेवाली घटना का चित्रण है। 'किसी ने वाणी से समझा दिया और छात्रों ने पढ़ लिया'– इतने से काम नहीं चलेगा। आपको अभ्यास करना पड़ेगा। इसलिये '**यह पद है निरबान**'– यह वाणी का विषय नहीं है। और, '**जो या पद का अर्थ लगावे**'– इस पद में बतायी गयी जो विशेषताएँ हैं, अर्थ माने जो तथ्य है, रहस्य है जो भी अपने अपने में ढाल ले, सँजो ले, अपने को उस पर स्थिर कर ले– '**सोई सन्त सुजान**'। '**रे हम झिनवा ओढ़िन**'– वही सन्त है, वास्तविकता का ज्ञाता है। जिस झिनवे को हमने प्राप्त किया, उसने भी प्राप्त किया है।

इस विधि से हमने कण-कण में व्याप्त, पानी से पतला, आसमान से भी व्यापक, वायु से भी अनन्त गुना वेगवान् उस ब्रह्म-चदरिया को धारण कर लिया, उसके अन्तराल में हमने स्थान पा लिया जहाँ संसार और संसार से उत्पन्न संयोग-वियोग की शीतलहरियाँ नहीं पहुँचतीं; लेकिन जब तक रात्रि की सीमा में आप हैं तब तक तो इन त्रय तापों को किसी-न-किसी रूप में सहना ही पड़ेगा।

सारांशतः ईश्वर-प्राप्ति का साधन भजन है। भजन करके हम भगवान को कुछ देते नहीं। हाँ, जिस कच्चे सौदे में आप जी रहे हैं; आज हमारा जीवन है, कल की गारण्टी हम नहीं दे सकते। इस कच्चे घर को छोड़कर शाश्वत घर की प्राप्ति; इस क्षणभंगुर जीवन के स्थान पर सदा रहनेवाले जीवन की प्राप्ति, ऐसा नहीं कि आज कमाया तो कल बैंक बैलेन्स खाली, तनख्वाह से पहले ही खतम, कर्ज हो गया सेठों का; इस क्षुद्र सम्पत्ति को छोड़कर स्थिर सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए भजन किया जाता है।

अपने प्रिय सखा अर्जुन को इसी उपलब्धि की प्रेरणा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दिया। उपदेश के आरम्भ में उन्होंने अर्जुन को ऐसा कुछ भी नहीं बताया; क्योंकि उस समय अर्जुन अबोध था, छोटी-छोटी बातों के लिये झगड़ रहा था। जैसे-जैसे समझने की क्षमता आती गयी, अर्जुन ने चौबीस प्रश्न किये– प्रभो! आप किन-किन भावों से जानने में आते हैं? यदि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ

है तो भयंकर कर्ममार्ग से हमें क्यों उलझाते हैं? प्रभो! पृथ्वी और स्वर्ग तक के सुख के लिये मैं युद्ध नहीं करूँगा; क्योंकि स्वर्गिक सुख में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अन्ततः वह मौन हो गया। जो प्रश्न वह नहीं कर सकता था भगवान ने उसे स्वयं बताया और जब देखा कि इसमें पात्रता आ गयी, तब भगवान ने कहा– अर्जुन! जानते हो भगवान कहाँ रहते हैं? उन्होंने स्वयं बताया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों अर्थात् प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। हृदय के अंदर! इतना करीब! तब लोग ईश्वर को देखते क्यों नहीं? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! मायारूपी यन्त्र पर आरूढ़ होकर भ्रमवश सब भटकते ही रहते हैं इसलिये ईश्वर को नहीं देख पाते। जब ईश्वर हृदय में है तो हम शरण किसकी जायँ? भजन किसका करें?– अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता, 18/62)

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ! 'सर्वभावेन' जाओ। ऐसा न हो कि थोड़ा-सा भाव पशुपतिनाथ में, थोड़ा-सा भाव संकटमोचन में, थोड़ा-सा भाव कामाख्या देवी में – तब तो हम रुपये में बारह आना लीक हो गये। हृदयवाले ईश्वर के हिस्से में तो केवल चार आने पड़े, इससे कल्याण नहीं होगा। इसलिये अर्जुन! सम्पूर्ण मनोयोग से, सम्पूर्ण भावों से उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ।

मान लें, हमने अपनी सारी मान्यताओं को तोड़ा और उस हृदयस्थ ईश्वर की शरण चले ही गये तो लाभ क्या? भगवान कहते हैं– '**तत्प्रसादत्परां शान्तिम्**'– उसकी कृपा से तुम परमशान्ति को प्राप्त कर लोगे और '**स्थानं**

प्राप्स्यसि शाश्वतम्'– उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, तुम्हारा जीवन रहेगा और तुम्हारा निवास-स्थान रहेगा। इसीलिये भजन किया जाता है। ऐसा स्थान मिलेगा जिसमें हर साल चूना नहीं पोतना पड़ेगा। आपका घर शाश्वत, आपका जीवन शाश्वत! इसी अपने सहज स्वरूप की प्राप्ति के लिये भजन किया जाता है और प्राप्तिवाला भजन ध्यान से ही सम्भव है।

जनश्रुतियों में है कि एक भगत कबीर से मन्त्र लेने गया। बहुत नाम सुन रखा था उसने। बहुत दूर से चलकर आया था वह। संयोग से वह कबीर से ही पूछ बैठा– ''यह कबीर साहब कहाँ निवास करते हैं?'' कबीर ने कहा– ''होगा कहीं कबिरवा!'' वह व्यक्ति अपने श्रद्धास्पद के लिये आदररहित सम्बोधन सहन नहीं कर सका। उसने कहा– ''इतने बड़े महापुरुष को कबिरवा कहता है!'' उसने कबीर को एक थप्पड़ मारा। कबीर साहब ने दूसरा गाल भी उसकी ओर घुमा दिया कि गलती दोनों गालों की है। उस व्यक्ति ने कहा– ''बड़े निर्लज्ज हो!'' बड़बड़ाता हुआ वह आगे बढ़ गया।

आगे बढ़ने पर उसने दायें-बायें, इधर-उधर लोगों से पूछा– भाई! यह कबीर साहब कहाँ रहते हैं? किसी ने उसे दिखाया कि वह क्या बैठे हैं कबीर साहब! तब तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। उसने लौटकर कबीर साहब को साष्टांग दण्डवत् किया और कहा– ''प्रभो! अनजाने ही मुझ अज्ञानी से बड़ी भूल हो गयी।'' कबीर ने कहा– ''बेटा! तुमसे तो भूल हुई ही नहीं। लोग दो पैसे की हँड़िया खरीदते हैं तो चार बार ठोंक बजा लेते हैं कि सौदा कच्चा तो नहीं है, दरार तो नहीं है। तू तो अपना तन-मन-धन सर्वस्व समर्पण करके गुरु बनाना चाहता है। थोड़ा ठोंक बजा लिया तो अच्छा ही किया।'' कहा भी गया है कि 'गुरु करै जानि के, पानी पीये छानि के।', रास्ता चले देख के और ऐसा कोई कार्य न करें जो जीवन में कभी चित्त से न उतरे, सोचनीय हो जाय–

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होय हँसाय॥

!! ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय !!

मोरे सैंया निकसि गये मैं ना लड़ी

वर्षों पूर्व की घटना है। हम मुम्बई हवाई अड्डे के प्रतीक्षालय में बैठे थे। साफ-सुथरी जगह पर ठीक सामने, जहाँ सबकी दृष्टि पड़ रही थी, सन्त कबीर के भजन की उक्त पंक्ति लिखी हुई थी। इस एक पंक्ति में 'पढ़ा-न-लिखा' कहे जानेवाले उन महापुरुष ने उस दर्द को व्यक्त कर दिया जो मनुष्य के हृदय में छिपा है। एरोड्रम के व्यवस्थाकारों ने इस पंक्ति को अत्यन्त उपयुक्त स्थल पर लिखवाया था, क्योंकि वहाँ के बाद लोगों को जाना है, प्लेन पकड़ना है। आत्मीय स्वजन तो वायुयान से उड़ गये- कोई अमेरिका, कोई यूरोप तो कोई अरब के लिये! जो विदा करने आये थे वहीं से देखते रह गये। प्रेम शंकालु होता है। वे सशंकित हैं कि विदेश जानेवाले कहीं वहीं रह न जायँ। कुछेक को चिन्ता होती है कि वहाँ वह विवाह न कर लें। वह आत्म-निरीक्षण करते हैं कि हमने उनसे कभी लड़ाई तो नहीं की, उन्हें कभी शिकायत का मौका तो नहीं दिया! स्वजनों को विदाई देने के पश्चात् लोग अपना अध्ययन करते हैं कि उनके साथ हमारा व्यवहार कैसा था।

हमने भजन की अन्य पंक्तियों पर भी विचार किया कि लोक-व्यवहार में इस भजन को प्रयोग किस सीमा तक हो सकता है? पूरा भजन इस प्रकार है–

मोरे सैंया निकसि गये मैं ना लड़ी॥

ना मैं बोली ना मैं चाली, ओढ़ के चदरिया अकेले पड़ी।
मोरे सैंया.....॥

सीस महल के दस दरवाजे, ना जाने खिड़की कौन खुली।
मोरे सैंया.....॥

मोरे संग की सात सहेली, ना मैं जाना न उनसे कही।
मोरे सैंया.....॥

कहत कबीर सुनो भाई साधो, यहि ब्याही ते कुमारी भली।
मोरे सैंया.....॥

ऊपर की पंक्तियों में वह विचार करते हैं, कदाचित् घर की कोई खिड़की खुली रह गयी हो! खिड़की से बिल्ली कूद जाती है, चूहे निकल जाते हैं, मच्छर आ जाते हैं; किन्तु आदमी तो खिड़की से नहीं निकलेगा! मुबई-जैसे महानगरों में तो वह खिड़की से निकलने की कभी सोच भी नहीं सकेगा; क्योंकि मान लें वह छठीं मंजिल पर है। वहाँ से वह कूदेगा भी, तो राम नाम सत्य हो जायेगा। हमने कुछ कहा नहीं, कोई माँग भी नहीं रखी, किसी प्रकार की कोई भूल भी नहीं हुई, फिर निकल कैसे गये?

वस्तुतः सन्त कबीर का यह भजन आध्यात्मिक है। उन्होंने अपने आराध्यदेव को साईं, पिया या प्रियतम कहकर सम्बोधित किया। उनके चिन्तन का नाम राम था। उनके आराध्य राम थे। वह राम दशरथ का बेटा नहीं; बल्कि जो घट-घट में निवास करता है, कण-कण में व्याप्त है। चिन्तनरत कबीर से जब किसी ने पूछा– 'आप क्या कर रहे हैं?'; वे बोले– मैं पिया को मना रहा हूँ। '**प्रियतम मोसन रुठल हो।**' घर में खटपट होने से कोई रूठकर दाहिने-बायें चला ही जाता है; किन्तु भगवत्पथ में साधना की सर्वोच्च अवस्था में एक स्थिति आती है कि भगवद्-दर्शन, स्पर्श के साथ साधक उन्हीं में विलीन हो जाता है, साधक का अन्तःकरण भगवान से भिन्न नहीं रह जाता, भगवान अलग नहीं रह जाते – '**जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**' *(मानस, 2/126/3)*– सेवक सदा के लिए खो जाता है और परमात्मा ही शेष बचता है। अब परमात्मा कहीं अलग नहीं है जिसे ढूँढ़े। जिसे ढूँढ़ रहे थे, वह आत्मा से अभिन्न होकर स्थित हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! संन्यासी या भक्त जिस विधि से तत्त्व को प्राप्त करता है, उसे सुनो। योग की विधि को धारण करके, एकान्त देश का सेवन करते हुए, वैराग्य में स्थिर रहते हुए चित को ध्यान में लगायें। सतत अभ्यास करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष– ये विकार

सर्वथा शान्त हो गये; ध्यान-धारणा-समाधि– इष्ट में प्रवेश दिलानेवाली स्थिति आ गयी, संयम सध गया, ध्यान परिपक्व हो गया, समाधि की स्थिति आ गयी, विकार शान्त हो गये उस समय वह पुरुष ब्रह्म को जानने के योग्य होता है। आवश्यकता थी तत्त्व को जानने की; लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं– वह ब्रह्म को जानने के योग्य होता है। संसार में भटकानेवाली प्रवृत्ति सदा के लिए शान्त हो गयी, भगवान में विलय दिला देनेवाली साधना परिपक्व हो गयी, चित्त के अन्तराल में यह अवस्था जिसके हृदय में आयी ब्रह्म को जानने के योग्य होता है।

इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है अर्थात् भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है, परिणाम देने की स्थिति में है। इसी पराभक्ति के द्वारा पुरुष तत्त्व को जानता है। वह तत्त्व है क्या? भगवान कहते हैं– वह मुझे जानता है अर्थात् भगवान जो हैं - अजर-अमर हैं, कण-कण में व्याप्त हैं, शाश्वत हैं, अकाट्य हैं, अशोष्य हैं, काल से अतीत हैं अर्थात् जिन अलौकिक गुणधर्मोंवाला मैं हूँ, मुझे जानता है और मुझे जानकर वह तत्क्षण मुझमें समाहित हो जाता है। प्राप्तिकाल में तो भगवान मिलते हैं और प्राप्ति के दूसरे ही क्षण पुरुष अपनी आत्मा को ही उन अलौकिक गुणधर्मों से परिपूर्ण पाता है। फिर भगवान भिन्न नहीं रह गया। जो इस स्थिति में हैं, वह हैं तत्त्वदर्शी। परमतत्त्व परमात्मा उन्हें विदित है। वह उसी में स्थितिवाले हैं। फिर भगवान भिन्न नहीं रह जाते जिनकी हम शोध करें। इसी को संत कबीर एक अन्य कूटपद में कहते हैं–

अरघे देले चली सुहासिन, चौके राँड़ भई संग साँईं।

जब तक भगवत्-पथ में अधकुचली अवस्था है तब तक तो भगवान उठायेंगे, बैठायेंगे, चलायेंगे, परितोष देंगे; आप घबड़ायेंगे तो वह सहलायेंगे, भूल करेंगे तो वह थोड़ी ताड़ना भी देंगे। यह सुहागन या सुहासिन की अवस्था है, तब तक भगवान निरन्तर आगे-पीछे रहते हैं, बातें करते हैं; किन्तु **'चौके राँड़ भई संग साँईं'**– चौके पर बैठते ही वह सुहासिनि राँड़ हो गयी। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार– ये चारों जहाँ कूटस्थ हो गये, अचल स्थिर ठहर गये, वही चौका है, कबीरचौरा है। मन में संकल्प करनेवाली प्रवृत्ति

शान्त हो गयी, चित्त में बार-बार चिन्तन करनेवाली प्रशक्ति शान्त हो गयी, बुद्धि ने अपने से निर्णय लेना बन्द कर दिया, अब अहंकार आये भी तो किस पर? इस प्रकार इन चारों के निरुद्ध होते ही, चौके पर बैठने के दूसरे ही क्षण वह सुहागन राँड़ हो गयी। क्यों, क्या हो गया? क्या पिया मर गये?

कबीर कहते हैं– नहीं, **'संग साँईं'**– अभी तक जो पिया अलग थे, मार्गदर्शन कर रहे थे, वह भिन्न नहीं रह गये। अब वह अलग से दिखा नहीं सकता कि हमारा पिया यहाँ बैठा है। अब वह भगवान कहीं अलग दिखाने के लिये नहीं बचा। भगवान गये कहाँ? वह कहते हैं– **'संग साँईं'**– वह मुझसे भिन्न नहीं है। कबीर कहते हैं– **'कोई अपने में देखा साँईं सन्त अतीत।'** यही स्थिति कैवल्यपदप्राप्त विकारों से मुक्त अरिहन्त परमपुरुष की है। यही अवतार कहलाते हैं। इसीलिए महापुरुषों के पीछे जहाँ-तहाँ 'भगवान' शब्द जुडा हुआ है।

'भयो विवाह'– परमात्मा से सम्बन्ध तो हो गया; किन्तु **'चली बिनु दुलहा'**– अब साधक अलग से दिखाये कि 'यह रहा दूल्हा'–ऐसी बात नहीं रह गयी; क्योंकि साँईं जो साधक से अलग थे, अभिन्न हो गये। **'बाट जात समधी समुझाई'**– भगवत्-पथ में चलते-चलते जहाँ यह अवस्था आयी तो समधी– जो सम तत्त्व है, धी अर्थात् बुद्धि उसमें प्रवाहित हो गयी, तहाँ समझ आ गयी। जो स्वरूप अविदित था, विदित हो आया। जिसे साधक जानना चाहता था उसकी जानकारी हो गयी। अब,

कहैं कबीर हम गवने जइबै तरब कंत लै तूर बजाई॥

कबीर कहते हैं– मैं इस पथ पर गमन करूँगा। किसलिए? **'तरब'**– तर जाने के लिये, भवसागर पार हो जाने के लिये! तरना कब सिद्ध है? **'तरब कंत लै'**– कंत माने स्वामी, मालिक, इष्ट! उन प्रभु को अपने में सँजोकर तरना होता है और जब सँजो ही लिया, उस समय पथिक की क्या अवस्था होती है? वह **'तूर बजाई'**– तुरीयावस्था में सदा निमग्न रहता है। फिर उसकी मस्ती में घटाव-बढ़ाव नहीं होता।

सुख दुख से एक परे परम सुख, ता सुख रहा समाई।
सन्तो! सहज समाधि भली।

जो सहज है, स्वयंसिद्ध है, **'बिधि न बनाये हरि आप बनि आये।'** अर्थात् जिसे उस आदितत्त्व के साथ समत्व प्राप्त हो गया, वह है सहज समाधि! वहाँ भगवान खो गये। जो अब तक हमें बोध करा रहे थे वह खतम हो गये। इस पूर्णत्व की स्थिति को सम्बोधित करते हुए महापुरुष कहते हैं– **'सैंया निकसि गये मैं ना लड़ी।'**

सुतीक्ष्ण से भगवान ने कहा– वर माँगो। रामचरितमानस में है-

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा।।
(मानस, 3/10/24)

मुनि ने कहा– भगवन्! वर के लिये तो हमने कभी विचार ही नहीं किया। हमारी तो समझ में ही नहीं आता कि सृष्टि में क्या झूठ है क्या सच? आपको जो अच्छा लगे, दे दें। भगवान ने कहा– हमने अपनी अविरल भक्ति आपको दी। मुनि ने कहा– फिर भी भगवन्! आप हृदय में बने रहना। भगवान ने कहा- हाँ, हाँ, वही दिया है। अतः माँग करना तो झगड़ा है। कबीर कहते हैं– हमने कोई माँग नहीं की?–**'मैं ना लड़ी'**; फिर क्यों निकल गये? आपकी रहनी क्या थी?

ना मैं बोली ना मैं चाली, ओढ़ि के चदरिया अकेले पड़ी।

'ना मैं बोली'– न तो मैं बोली कि हमें यह चाहिए, वह चाहिए; और **'ना मैं चाली'**– न चलने का अर्थ है कि चित्तवृत्ति शान्त है। आप यहाँ बैठे हैं लेकिन मन कभी घर, कभी मकान, कभी दुकान और कभी-कभी तो मन इतना विकल हो जाता है कि तीन सेकेण्ड में सृष्टि की परिक्रमा करके लौट आता है। – यह है चलना और न चलने का अर्थ है वृत्ति का अचल स्थिर ठहर जाना। कबीर कहते हैं कि हमने भगवान से कोई कामना नहीं की, निष्काम भाव से कर्म में लगे रहे और हमारी वृत्ति भी चलायमान नहीं हुई।

'ओढ़ि के चदरिया अकेले पड़ी'– चित्त ही चदरिया है। इस चित्त में अनन्त सृष्टि के जितने भी नमूने हैं सब अंकित हैं–

बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥

(विनयपत्रिका, 124)

एक वृक्ष के अन्दर तरह-तरह के काष्ठोपकरण– चाहे आप उससे दियासलाई बनायें, कुर्सी-मेज बनायें या चाहे जो बना लें। इसी प्रकार धागे में नाना प्रकार के वस्त्रों की संरचना है। उस धागे से आप धोती बनायें या कुर्ता, पैराशूट बनायें या कुछ भी बना लें। ठीक इसी प्रकार मन के अंतराल में विधाता की सृष्टि के अनन्त शरीर विद्यमान हैं। जब जिस संस्कार का समय आता है उसी के अनुरूप शरीर बनाकर यह मन फेंकता रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ *(गीता, 5/19)*

उन पुरुषों के द्वारा जीवित अवस्था में ही सारा संसार जीत लिया गया। किनके द्वारा?– जिनका मन समत्व में स्थित है। अब, समत्व की स्थिति से और संसार जीतने से क्या सम्बन्ध है? इस पर भगवान कहते हैं– **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**– क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष और सम है और इधर साधक का मन भी सिमटकर निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया, इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। मन का विस्तार ही जगत् है। कबीर कहते हैं– **'ओढ़ि के चदरिया अकेले पड़ी।'**– चित्त ही चदरिया है। पहले तो यह चारों ओर दौड़ता रहता है, जैसा संस्कार वैसा बहकता रहता है, उन पिण्डों का आकार ले लेता है। किन्तु जब चादर ओढ़ लिया, चित्त सब ओर से समेट लिया, अंतराल में एकान्तसेवी होकर पड़ रहा, फिर कभी उद्वेग उत्पन्न ही नहीं हुआ; फिर सैंया क्यों निकल गये? हो सकता है, घर की कोई खिड़की खुली रह गयी हो!

'सीस महल के दस दरवाजे'– शरीर एक मकान है। यह **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।'** *(मानस, 7/42/8)*– यह साधना के लिये निवास-स्थान है, मुक्ति का दरवाजा है। ऐसा दुर्लभ तन पाकर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा, वह जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख पाता है और सिर पीट-पीटकर पश्चाताप करता है। मान लिया शरीर मकानमात्र है, लेकिन इसमें मलावरण-विक्षेप, अनेक जन्मों के संस्कार संचित हैं। जब चित्त सब ओर से सिमटकर अपने अन्तराल में गुप्त होकर पड़े रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तहाँ यह पारदर्शी हो जाता है, क्योंकि एक भी संस्कार का आवरण नहीं है। यदि एक भी संस्कार है तो आप शान्त होकर नहीं बैठ सकते। जैसा संस्कार है वैसा ही उद्वेग पैदा होगा। पहले चित्त पर मलावरण-विक्षेप के अनन्त धब्बे थे, जग का अंधकार था; लेकिन चित्त को समेटकर उसी के अंतराल में स्थिर होकर एकान्त-सेवन की क्षमता आने पर यह शरीर शीशमहल हो जाता है, पारदर्शी हो जाता है।

'दस दरवाजे'– पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– यही दस दरवाजे हैं। **'ना जाने खिड़की कौन खुली'**– जानबूझकर तो हमने कोई भूल नहीं की; किन्तु अनजाने शायद कोई खिड़की खुली रह गयी हो। आँखों ने बाहर कुछ देख लिया हो, कानों ने बाहर कुछ सुन लिया हो, रसना ने कुछ गलत उच्चारण कर लिया हो, कुछ अलग ही टेस्ट ढूँढ़ लिया हो – यह है खिड़की का खुलना! शायद कोई खिड़की खुली रह गयी हो। ऐसा समझ में तो नहीं आता फिर हमारे प्रभु क्यों खिसक गये, मार्गदर्शन करना क्यों बन्द कर दिया? अगली पंक्ति में एकांत-सेवन का राज बताते हैं–

मोरे संग की सात सहेली।

भजन यह शरीर नहीं करता। यह तो निवास-स्थान मात्र है। भजन जब भी आपसे पार लगेगा, एक इष्टोन्मुखी लगन पैदा होगी, वह आपसे भजन कराती है। यदि लगन नहीं है तो आप चाहे तीर्थ में बैठे, चाहे मन्दिर-मस्जिद में, मन तो खुराफात करता रहेगा। यदि लगन है तो आप चाहे कूड़े

पर खड़े रहेंगे तब भी सुरत वहीं टिकी मिलेगी जिसमें लगन लगी है। इसीलिये इष्टोन्मुखी वृत्ति को स्त्री की संज्ञा दी जाती है। इष्ट का भजन कैसे किया जाता है? इसके लिये योग-पथ की सात भूमिकाएँ हैं जिन्हें 'योगवाशिष्ठ' नामक ग्रन्थ के उत्पत्ति और निर्वाण-प्रकरण में ज्ञान की सात भूमिका के रूप में कहा गया है। इन्हीं सातों से होकर वह इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति अर्थात् लवरूपी लड़की गुजरती है।

योग-पथ की पहली भूमि है 'शुभेच्छा'– शुभ के प्रति इच्छा; विषयों के वैराग्य के साथ यह इच्छा हो कि मैं परमतत्त्व का साक्षात् करूँ। दूसरी भूमिका है 'सुविचारणा'; शुभ के विषय में चिन्तन और जब विचार स्थिर हो गया कि 'साधन ऐसे करो', तहाँ तीसरी भूमिका 'तनुमानसी' आती हैं। अभी तक हम शरीर में विचरण करते थे, जब चिन्तन द्वारा समझ काम कर गयी तो साधक मन में ही तनवाला हो जाता है। मानस माने मन, अंतःकरण! वह अंतःकरण में सिमटने लगता है। इससे वह चौथी भूमिका 'सत्त्वापत्ति' में पहुँचता है। सत्त्व अर्थात् परमात्मा में बुद्धि स्थिर होने लगती है, उनका पक्ष सुदृढ़ होने लगता है। पाँचवीं भूमिका 'असंसक्ति' है; पदार्थों से संसर्ग क्षीण हो जाता है, उनमें आसक्ति समाप्त हो जाती है। कैसा भी संग मिले, उनसे असंग रहने की क्षमता 'असंसक्ति' है। भजन जागृत हो जाता है, परमात्मा की अनुकूलता प्रतीत होने लगती है कि संसार है ही नहीं। छठीं भूमिका 'पदार्थभावना' में पदार्थों का अभाव हो जाता है कि संसार है ही नहीं। संसार ही पदार्थ है, धोखे की एक टटिया भर है, जादू का खिलौना है। मानस में भगवान शिव की उक्ति है–

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना।।

(मानस, 3/38/5)

उमा! जगत् एक सपना है– आया और गया; इसलिये संसार के पदार्थ स्वप्नवत् प्रतीत होने लगते हैं। अब संगदोष हो तो किसमें? गिरेगा तो किसमें? वस्तु तो है ही नहीं! तब सातवीं भूमिका 'तुर्यगा' आती है। मन ही

तुरंग (घोड़ा) है। साधक इसे भली प्रकार नियन्त्रित कर इस पर सवार होकर घूमता है। वह आत्मा में ही रमण करनेवाला हो जाता है। महापुरुष ने उस साधक को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' भी कहा है।

जब लगन इष्टोन्मुखी प्रवाहित हुई तो योग की इन सात सीढ़ियों से गुजरना होता है। यही उसकी संगी, सहेलियाँ हैं। इन सातों के अतिरिक्त **'ना मैं जाना'**– हमने बाहर कुछ जाना ही नहीं, **'ना उनसे कही'**– हमने भगवान से कोई याचना भी नहीं की, फिर सैंया क्यों निकल गये?

कहत कबीर सुनो भाई साधो! यह ब्याही ते कुमारी भली।

कबीर कहते हैं– संतो! ध्यान दो। कबीर ने अपनी अधिकांश वाणियों का प्रसारण संतों को उद्देश्य बनाकर किया। कहीं उन्होने पंडित-ज्ञानी से कहा, तो कहीं साधु-संतों से कहा; क्योंकि वह जानते थे कि जिन स्थितियों का वे चित्रण कर रहे हैं, उसे समझने की क्षमता सबमें नहीं हो सकती। जिनमें यह क्षमता पायी गयी वे संत हैं क्योंकि वे इस पथ के पथिक हैं और उनके सामने भी वही दृश्य गुजर रहा है इसलिए वे अवश्य जानेंगे। इस पद की अंतिम पंक्ति में कबीर कहते हैं कि ऐसी ब्याही से तो कुमारी ही रहना अच्छा था। ब्याही अर्थात् भगवान आगे-पीछे राह बतायें, साथ चले, आप घबड़ा जाओ तो सन्तोष दें, भटक जाओ तो पकड़कर रास्ते पर ले आवें – यह है सौभाग्यवती, अहिवाती। 'कुमारी'– 'कु' कहते है दूषित को; 'मारी' अर्थात् उन्हें मारनेवाला! कुमारी अर्थात् संसार के शुभाशुभ सस्कारों को मिटानेवाला; **'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।'** *(गीता, 12/17)* शुभ वह जो परमात्मा की ओर ले चले, मुक्ति दिलाये; अशुभ वह है जो भटकाये, अनन्त योनियों में ले चले। इन दोनों का अंत करनेवाला भक्त मुझे प्रिय है। यही अवस्था है सैंया के निकलने का; क्योंकि विकार बचे ही नहीं तो किसे मारे? विकार सर्वथा कट गये तहाँ भगवान जो अलग थे, दर्शन और स्पर्श के साथ आत्मा में ही प्रवाहित हो गये। आत्मा के स्थान पर परमात्मा को खड़ा पाया– **'कोई अपने में देखा साँईं सन्त अतीत।'** अब विलग कहीं

प्रभु बचा ही नहीं! '**राम न कहूँ खुदाई।**'– वहाँ न कहीं राम बचा है, न खुदा। महापुरुष ही कल्याण के स्रोत रहे हैं। महापुरुषों ने तो घोषणा कर दी–

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।।

(मानस, 1/165/6)

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।

(मानस, 7/92/5)

गुरु के बिना कोई भवसागर पार हो ही नहीं सकता, चाहे विधाता और शंकर की स्थितिवाला ही क्यों न हो। गुरु से दुराव हो गया और जरा-सी भी दूरी शेष है, वह भी तय नहीं कर पायेंगे। यदि तकदीर रूठ जाय, विधाता आपके कर्मों में घोर यातना लिख दें तब भी गुरु आपको बचा लेंगे; क्योंकि जैसे-जैसे होनी का निर्माण होता है वह उस पथ पर ले चलेंगे। जिससे कुसंस्कारों का निवारण होता है, वे उस साधना-पथ पर आपको ले चलेंगे। वे आपको रख लेंगे, आपकी रक्षा कर ले जायेंगे।

इसीलिए गुरुनानक जी ने कहा– '**वाहे गुरुजी दा खालसा! वाहे गुरुजी दी फतह।**'– गुरु महाराज वाह! वाह! धन्य हैं! हम सब उनकी शरण हैं। और जहाँ गुरुजी हैं वहीं फतह है, विजय है। यह विजय तब होती है जब दर्शन, स्पर्श और स्थिति मिल जाय, द्रष्टा आत्मा अपने ही सहज स्वरूप में स्थित हो जाय। इसके आगे कोई सत्ता नहीं बची जिसकी हम शोध करें; इसलिए भगवान ने मार्गदर्शन करना, बोलना बंद कर दिया। हमारे पूज्य गुरु महाराज को जब यह स्थिति आयी, भगवान ने मिलना-जुलना, बोलना बन्द कर दिया तो वह उदास हो गये कि हो क्या गया? भगवान कहाँ चले गये? जैसे कुछ खो गया हो। लगभग छः महीने के पश्चात् महाराज जी को स्थिति का बोध हुआ कि सैंया कहीं से निकले नहीं, बल्कि साधक ही उनमें समाहित हो गया।

भगवान महावीर में अपने शिष्यों को पंच नवकार (नमस्कार) सूत्र दिया- '**ॐ णमो अरहंताणं**'– जिन्होंने शत्रुओं का अन्त कर दिया है (वही

है कुमारी), उनके प्रति समर्पित हो जाओ। **'णमो सिद्धाणं'**– सिद्धि उसे कहते हैं कि जिस परमात्मा को हम साधते थे, वह सध जाय। जिन्हें वह सचमुच प्राप्त है, उनकी शरण जाओ। **'णमो आयरियाणं'**– आर्य वह है इष्ट के अनुरूप जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ संयत हैं, वृत्ति स्थिर है, जो सत्पथ पर है, निष्कपट है, छलहीन है, साधना में कभी प्रमाद नहीं करता वह आर्यत्व प्राप्त है। जो टेढ़ा है, वक्र है, अजितेन्द्रिय है, जिसकी दृष्टि यथार्थ नहीं है वह अनार्य है। आर्य एक व्रत है, साधना है। जो अस्तित्व को साधने चला है, आर्य है। जो नश्वर के पीछे भटकता है, अनार्य है। इसलिए आर्य-संस्कृति भारत से विश्वभर में फैली। लोगों ने अनुमान लगाया कि आर्य कोई प्रजाति रही होगी। वस्तुतः यह कोई जाति नहीं। आर्य वह है जो अस्तित्ववान् मात्र अविनाशी ईश्वर का उपासक हो। उसके व्रत को जो धारण कर ले, संयम को साध ले, आर्य है। इसीलिये **'णमो आयरियाणं'**– ऐसे आर्यपुरुष के प्रति समर्पित हो जाओ। अन्य कोई मार्ग नहीं है।

'णमो उवज्झायाणं'– जो उपाध्याय है, उपदेशक है, उस सत्पथ का उपदेश देनेवाले है उनके चरण में जाओ, उपदेश श्रवण करो। और अंत में कहा- **'णमो लोए सव्व साहूणं'**– संसार में जितने साधु है उनको नमन करो। भले ही वह आज ही साधुवेश में आया हो, साध्य की ओर उसने दो कदम रखा तो! उनकी सेवा करो। **'एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो।'**– इस प्रकार ये पाँच नमस्कार सम्पूर्ण पापों से भव-बन्धन से तुम्हें मुक्ति दिला देंगे। **'मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।'**– यही सर्वश्रेष्ठ और प्रथम मंगल है। जो नानक कह रहे हैं, तुलसी कह रहे हैं, वही भगवान महावीर कह रहे हैं। इसके बाहर कोई महापुरुष जा ही नहीं सकता। इसका पालन करें। यदि सत्य की जरूरत है तो किसी सद्गुरु की शरण जायँ; अन्यथा आज तक किसी दूसरे उपाय से हृदय में साधना जागृत ही नहीं हुई।

!! ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय !!

गुरु ने पठाया चेला न्यामत लाना

गुरु ने पठाया चेला न्यामत लाना।

पहली न्यामत पानी लाना, कुआँ बावली के पास न जाना,
नदिया नाला छाँड़ि के चेला, तुम्बा भर के लाना।।
गुरु ने पठाया.....।।

दुसरी न्यामत आटा लाना, हाट बाजार के पास न जाना,
कूटा पीसा छाँड़ि के चेला, खप्पर भर के लाना।।
गुरु ने पठाया.....।।

तिसरी न्यामत लकड़ी लाना, जंगल झाड़ के पास न जाना,
सूखा गीला छाँड़ि के चेला, गट्ठर बाँध के लाना।।
गुरु ने पठाया.....।।

चौथी न्यामत कलिया लाना, जीव जन्तु के पास न जाना,
जिन्दा मुर्दा छाँड़ि के चेला, हण्डी भर के लाना।।
गुरु ने पठाया.....।।

पाँचवीं न्यामत भगती लाना, वेद किताब के पास न जाना,
कहत कबीर सुनो भाई साधो, निर्मल होके आना।।
गुरु ने पठाया.....।।

सन् 1955 के व्यतीत होने में दो महीने रह गये थे जब हम पूज्य गुरु महाराज की शरण में अनुसुइया आये थे, उन आरम्भिक दिनों में यह भजन और इसका आशय महाराज जी से सुनने को मिला था।

गुरु का शाब्दिक अर्थ है अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलनेवाला। यही वैदिक ऋषियों की कामना भी है– **'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'** तत्त्वदर्शियों के लिए प्रयुक्त होनेवाले इस शब्द का प्रयोग कालान्तर में शिक्षा-

दीक्षा देनेवाले आचार्यजनों, कुल-पुरोहितों किंवा सभी आदरणीयों तथा समवयस्कों के सम्बोधन तक होने लगा जिससे इस शब्द का वास्तविक आशय धूमिल पड़ गया।

प्राचीन भारत में शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल प्रणाली पर आधारित थी। विद्यार्थी आचार्य को गुरु कहते थे। वे अपने लिए तथा गुरुजी के लिए भी समाज से भिक्षा ले आया करते थे। शिक्षा पूर्ण हो जाने पर शिष्य द्वारा आचार्य गुरु को दक्षिणा देने की परम्परा थी। देश, काल, परिस्थिति एवं मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं से विवश आचार्य गुरु कभी-कभी विचित्र दक्षिणाएँ माँग बैठते थे; जैसे– आचार्य द्रोण ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि पांचाल नरेश द्रुपद को हमारे चरणों में गिरा दो। एकलव्य से दक्षिणा में उन्होंने अँगूठा ही माँग लिया। आचार्य गुरु शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री के हठ पर एक राजकुमारी को दासी बना डाला। आचार्य वरतन्तु ने शिष्य कौत्स से चौदह हजार स्वर्ण मुद्राएँ माँग लिया। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने अपने शिष्य गालव से 800 श्यामकर्ण घोड़ों की माँग कर दी जिसकी आपूर्ति में उन्हें छठी का दूध याद आ गया। इन्हीं कठिनाइयों को देखते हुए आजकल शुल्क और वेतन पर आधारित शिक्षा प्रणाली प्रचलित है जिसमें गुरु-दक्षिणा का औचित्य ही समाप्त हो गया।

दीक्षा देनेवालों को भी गुरु कहने की परम्परा है जो दैवी शक्तियों की प्रसन्नता के लिए मंत्रों की दीक्षा देते हैं। किसी सम्प्रदाय में मंत्र के लिए हजार-पाँच सौ रुपये की दक्षिणा निर्धारित है, तो कहीं कम शुल्क से भी काम चल जाता है। गोरखपन्थ में दीक्षित योगियों को जीवन में एक बार अपने परिवार से भी भिक्षा ले आना होता है।

कुलगुरुओं को भी गुरु कहने का प्रचलन है। यह उपरोहित या कुलगुरु परिवार की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर घर-घर जाकर और तीर्थगुरु तीर्थों के माध्यम से लोकमंगल का विधान करते और गृहपतियों से पुष्कल दक्षिणा प्राप्त करते हैं।

काशी क्षेत्र में गुरु शब्द समवयस्कों के दैनिक व्यवहार में भी प्रयुक्त होता है। ठंढाई-प्रेमी एक दूसरे से मिलने पर पूछते हैं– 'का गुरु छनल!' ठंढाई पी लेने पर कहेंगे– 'का गुरु गँठल।' किन्तु गुरु शब्द का वास्तविक प्रयोग उन महापुरुषों के लिए है जो शिष्य को परमात्मा तक की दूरी तय कराते हैं, भवसागर से पार कराते हैं–

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

(मानस, 7/92/5)

इसीलिए अन्य आदरणीयों से पृथक् करने के लिए आध्यात्मिक गुरुओं को सद्गुरु कहा जाता है जो सत् एकमात्र परमात्मा की शोध में सहायक हैं। इन सद्गुरुओं के यहाँ भौतिक वस्तुओं की भेंट नहीं लगती। उनके पास लगता है मन का समर्पण! सद्गुरुओं के यहाँ केवल श्रद्धा लगती है।

एक अच्छे महापुरुष थे। उनके पास एक भक्त युवक आया। उसने निवेदन किया– ''भगवन्! मुझे भजन की विधि प्रदान करें, ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। मैं आपके आदेश का पालन करूँगा।'' महात्मा ने कहा– ''ठीक है! तुम गंगा-स्नान करके आओ, फिर ले लो विद्या।'' गंगा समीप ही थी। युवक चला गया।

आश्रम में एक भंगिन झाड़ू लगा रही थी। गुरु महाराज ने कहा– ''बेटा! एक नवयुवक साधु बनने आया है। वह स्नान करने गया है, अभी आता होगा। तू इस ढंग से झाड़ू लगा कि धूल-गर्दा उड़कर उसके ऊपर गिरे। लेकिन भाग जाना, वह पत्थर मार सकता है।'' उस नवागन्तुक के शरीर पर ज्योंही गर्द पड़ी, वह बड़ी जोर से बिगड़ा– ''चुड़ैल कहीं की! नालायक! इतनी भी समझ नहीं है कि कोई भला आदमी आ रहा है तो झाड़ू लगाना थोड़ी देर के लिए बंद कर दे।'' उसने दो-चार पत्थर खींचकर मारा; किन्तु भंगिन सावधान थी, वह अगल-बगल हट गयी। उस व्यक्ति ने पुनः स्नान किया, गुरुदेव को प्रणाम किया। गुरुजी बोले– ''हूँ! भूँकता है और काटता भी है। जाओ, अभी एक वर्ष तक किसी एक नाम का जाप करो, उसके पश्चात् आना। अभी तुममें दीक्षा लेने की पात्रता नहीं है।''

आगन्तुक की लगन सच्ची थी। एक वर्ष के उपरान्त वह पुनः गुरुजी के पास आया। उन्होंने कहा– ''गंगा-स्नान कर आओ।'' युवक के जाते ही गुरुजी ने उसी सफाईकर्मी से कहा– ''बेटा! देखो, वह पुनः आया है। ऐसा कर, इस ढंग से झाड़ू लगा कि दो-एक सींक उसके पाँव से छू जाये। डरना नहीं, वह पत्थर तो नहीं मारेगा किन्तु लगता है अभी हल्ला बहुत करेगा।''

वह बेचारा गंगा-अवगाहन करके बहुत बच–बचा के चल रहा था कि उस भंगिन ने झाड़ू की सींक छुआ ही तो दिया। वह बिगड़ा– ''नालायक, बदतमीज कहीं की! इतने पवित्र आश्रम में ये अशिष्ट लोग पता नहीं कहाँ से आ गये?'' उसने बड़ी खरी-खोटी सुनाया, पुनः स्नान कर गुरुजी से निवेदन किया– ''भगवन्! कृपया शरण में रख लें।''

उन महात्मा ने कहा– ''हूँ! तुम्हारा मन काटता तो नहीं, अभी भूँकता बहुत है। जाओ, एक वर्ष और उसी नाम का जप करो, फिर आना।'' एक वर्ष के पश्चात् वह आया, स्नान करने गया। उन महात्मा ने उस भंगिन से कहा– ''बेटा! टोकरी में पत्तियाँ भर ले, कोई गंदी चीज न रहे। जब वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगे, चबूतरे के ऊपर से कचरे की टोकरी अचानक झटके से उसके सिर पर फेंक देना।'' भंगिन ने वैसा ही किया। तब वह युवक हाथ जोड़कर बैठ गया– ''माताजी! दो वर्ष धक्का खाते हो गया। निमित्त आप ही थीं। क्षमा करें, हमसे बड़ी भूल हुई। हमें देखकर चलना चाहिये था।'' उसने पुनः स्नान किया, गुरु महाराज को प्रणाम किया। उन्होंने कहा– ''हाँ बेटा! अब तुम्हारा मन रिक्त हो गया है। अब तुम वस्तु लेने लायक हो गये हो।'' इसके पश्चात् उस साधक द्वारा साधना अच्छी पकड़ में आ गयी। इसलिए सद्गुरु की शरण में जाने पर तन-मन का समर्पण आवश्यक है। मस्तिष्क में जितना पुराना कचरा है, फेंक दें।

इसी प्रकार एक अन्य कथानक है। एक युवक किसी संत के पास पहुँचा। वह बोला– ''आपने हमारा नाम सुना ही होगा। मीडिया मेरे बारे में प्रसारण करता ही रहता है। मैं सभी विद्याओं का विद्वान् हूँ। भागवत, वेद,

पुरान, कुरान सब मुझे कण्ठस्थ हैं। कृपया मुझे शरण में रख लें। वैसे, आपको कुछ बताना नहीं पड़ेगा। एक परम्परा है गुरु बनाने की, इसलिए आपके पास आया हूँ।'' वह महापुरुष बिगड़े– ''मूर्ख! जब तेरे मस्तिष्क में पहले से ही कचरा भरा पड़ा है, मैं अपनी वस्तु कहाँ दूँगा? तू रखेगा भी कहाँ? चलो, जैसा तू मुझे गुरु बना रहा है, वैसा ही चेला मैं तुझे मान लेता हूँ। मैं बद्रीनाथ यात्रा पर जा रहा हूँ, तू भी मेरे साथ चल।'' एक पुराने सेवक और इस नये शिष्य के साथ गुरु की यात्रा प्रारम्भ हुई।

पगडण्डियों का रास्ता! उस जमाने में पैदल चलकर चार-छः महीने में लोग बद्रीनाथ धाम पहुँच पाते थे। यत्र-तत्र रुकते महीने–डेढ़ महीने बीत गये। रास्ते में एक गाँव पड़ा। गुरु महाराज ने गाँव के बाहर कुएँ के समीप एक घने वृक्ष के नीचे आसन लगाया। शिष्य ने भोजन का प्रबन्ध किया। कुछ खा-पीकर गुरु-शिष्य सभी चिन्तन-भजन में बैठ गये। अकस्मात् किसी नारी का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ा। वह विद्वान् शिष्य उठकर आवाज की दिशा में जाने लगा। गुरु महाराज ने कहा– ''बेटा! कहाँ जा रहे हो?'' शिष्य ने कहा– ''गाँव से किसी के रोने की आवाज आ रही है।'' गुरु महाराज ने कहा– ''बेटा! कहीं सोहर, कहीं गाना-बजाना तो कहीं कोई चल बसता है तो लोग विलाप करते हैं; यह तो लगा ही रहता है। यही तो तू छोड़कर आया है। इसी का नाम संसार है। यह तो होता ही रहेगा, तू बैठ। कर भजन!'' शिष्य बोला– ''आप पढ़े-लिखे तो हैं नहीं; आप क्या जानें वेदशास्त्र में परोपकार की कितनी महिमा लिखी है! उसमें है, कोई दुःखी हो तो उसकी अवश्य सहायता करनी चाहिए– '**परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥** *(मानस, 7/40/1)*''

गुरु महाराज मना करते ही रह गये। वह शिष्य गाँव गया। उसने देखा– एक पण्डितजी मर चुके थे, पंडिताइन बैठकर रुदन कर रही थी। पण्डितजी का व्यवहार अच्छा न था। गाँवभर ने रुदन सुना किन्तु सान्त्वना देने और अर्थी उठाने कोई भी नहीं आया। ब्रह्मचारी जी ने कहा– तुम चिन्ता मत करो पंडिताइन! मैं आ गया हूँ। मैं सब देख लूँगा। उन ब्रह्मचारी ने

गाँववालों को फटकारा– ''बैर और प्रेम जीवन तक ही शोभा देता है। अब मरे हुए से विरोध छोड़ो।'' समझाने-बुझाने से गाँव के सभी लोगों ने मिलजुलकर शव का अन्तिम संस्कार किया। दिवंगत आत्मा की शान्ति हेतु ब्रह्मचारीजी भी गाँववालों को कथा-पाठ सुनाने लगे।

प्रातःकाल तक शिष्य के न लौटने पर गुरु महाराज बद्रीनाथ की यात्रा पर निकल गये। शिष्य गाँववालों को कथा सुनाता रहा। तेरह दिनों तक चली कथा के समापन पर गाँव के लोगों ने इतनी अधिक सामग्री अर्पित किया कि धूमधाम से पण्डितजी के त्रयोदशाह के बाद भी चार-छः बोरे गेहूँ, शक्कर, घी-तेल इत्यादि बच रहा। पंडिताइन ने देखा कि बाबाजी तो बड़े काम के हैं; पण्डित के रहने पर कभी एक बोरी अनाज घर में देखने को न मिलता था। उसने सोचा– इन्हें किसी युक्ति से रोक लेना चाहिए। उसने उस विद्वान् युवक से कहा– ''भगवन्! शास्त्रों में विद्वानों की महिमा बहुत सुनी थी, आज प्रत्यक्ष देख रही हूँ। कितनी सरस कथा आपने सुनाई। मन को बड़ी शान्ति मिली। हमारे पण्डितजी अपने पीछे छः-आठ साल के दो बालक छोड़ गये हैं। स्वयं तो निरक्षर थे ही, बच्चों की शिक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं कर पाये। गाँव के लोग विरोध में हैं ही। ये ब्राह्मण बालक भी निरक्षर ही रह जायेंगे। कृपा करें, इन अनाथ ब्राह्मण बालकों का यज्ञोपवीत कर इन्हें साक्षर बनायें। आप जैसा विद्वान् यहाँ कोई है भी तो नहीं।''

प्रशंसा विद्वानों की कमजोर नस हुआ करती है। वह शिष्य फूलकर कुप्पा हो गया। वह बोला– ''पण्डिताइन! तुम चिन्ता मत करो। यहाँ ही नहीं, मेरे-जैसा विद्वान् काशीपुरी और अवन्तिका में भी नहीं है। ठीक है, मैं इन बच्चों को पढ़ाकर दिखा दूँगा कि विद्वान् किसे कहते हैं!'' अब वह विद्वान् शिष्य वहीं रुककर बच्चों को पढ़ाने लगा। ब्राह्मणी भी बच्चों को उनके संरक्षण में सौंपकर निश्चिन्त हो गयी।

लड़के मनोयोग से पढ़ने लगे। गुरुजी विश्राम करते तो लड़के चरण दबाते। लड़कों ने गुरुजी के चरणों को आपस में बाँटकर एक-एक चरण को अपना-अपना गुरु मान लिया था। एक दिन निद्रा के आवेग में बड़े बच्चे के

हिस्से का पैर छोटे बच्चे के गुरु-पैर से छू गया। छोटे लड़के ने एक मुक्का मारकर उस पाँव को हटा दिया। बार-बार हटाने पर भी वह पाँव दूसरे पाँव पर चढ़ जा रहा था। छोटे लड़के ने कहा– तुम्हारे गुरुजी बड़े सुग्घर हैं जो हमारे गुरुजी को लात से मार रहे हैं। एक-दो बार तो उसने हटाया, फिर तैश में आकर छोटी-सी कुल्हाड़ी उठाकर बड़े भाई के हिस्सेवाले पैर पर प्रहार कर दिया। साधु बाबा जजककर उठे। तब तक दूसरा प्रहार हो चुका था जो उनके नाक और होठ से टकराया। नाक कट गयी। आक्रोश में उन्होंने पण्डिताइन को उलाहना दिया– ''पंडिताइन! तुम्हारे बच्चे बड़े नालायक हैं, गँवार हैं। हमारी नाक काट दिये।'' उसने कहा– ''महाराज! हमने तो साल भर से बच्चों को आपको सौंप दिया था। विद्वान् बनाते-बनाते आपने उन्हें नालायक बना डाला। आपने ही उन्हें सिखाया-पढ़ाया तो भुगतेगा कौन?...'' दो-चार खरी-खोटी उसने भी सुनाई। **'काज परे कुछ और है, काज सरे कुछ और।'**– यही लोकरीति है।

तब तक किसी ने कहा– कुएँ पर दो महात्मा आये हैं। गाँव के लोग उधर चले। वह शिष्य भी गया तो देखा– गुरु महाराज बद्रीनाथ की यात्रा से वापस आ गये हैं। नासिका के बल बोलते हुए उसने कहा– ''अरे गुरु महाराज! हमारी तो नाक कट गयी।'' गुरु महाराज ने कहा– ''अपनी नाक जाकर वेद में ढूँढ़! तू तो विद्वान् है, यहाँ क्या करने चला आया?'' शिष्य के गिड़गिड़ाने पर गुरु महाराज द्रवित हो गये, आदेश दिया– ''अब यहाँ से चल, भजन कर!'' संत कबीर ने ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर कहा था–

पढ़े लिखे कुछ बेद शास्तर, भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लानत ऐसे तन का।
कोई सफा न देखा दिल का॥

इसलिए जितनी भी सांसारिक विद्या है, सब रटंत विद्या है। यह रटंत विद्या वहाँ काम नहीं देती। वह विद्या, सद्गुरु की विद्या एक जागृति है। अपने मन को रिक्त कर, समर्पण करके जो उनके पास जाता है, उन्हीं के हृदय में वह विद्या प्रसारित हुआ करती है। इसी आशय का कबीर का एक

भजन है जिसमें गुरु महाराज ने शिष्य से पाँच वस्तुओं की अपेक्षा किया है जो सब मिलाकर मन का समर्पण है–

गुरु ने पठाया चेला न्यामत लाना।

नेमत अरबी भाषा का स्त्रीलिंगीय शब्द है जिसका आशय उत्तम भोजन या उपहार है। गुरु ने कहा– यदि तुम्हें शिष्य बनना है तो हमारे लिए कुछ उपहार लेकर आओ। नियामत अर्थात् नवीन मत, नवीन सिद्धान्त लेकर आओ अर्थात् अपनाओ। पहले से मस्तिष्क में जो भरे हो, उसे त्याग दो। क्या लावें?–

पहली न्यामत पानी लाना।

पहली नियामत है कि पानी लाओ! लेकिन उसे कुएँ या बावली से मत लाना, नदी और नालों से मत लाना अर्थात् संसार में जो पानी मिलने के स्थल हैं, उनसे नहीं लाना। बाह्य पानी से इसका कोई प्रयोजन नहीं है और पानी लाना है। वास्तव में यह पानी है प्रेमा-भक्ति।

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।।

(मानस, 7/110/9)

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।।

(मानस, 7/48/6)

रामभक्ति ही जल है। भक्ति में प्रेम ही पानी है। प्रेमरूपी पानी लाओ!

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचे, शीश देइ लै जाय।।

प्रेम बाजार में नहीं बिकता, बाड़ी में उत्पन्न नहीं होता। राजा हो चाहे परजा; शीश दे दो, प्रेम ले लो।

प्रेम बिकन्ता मैं सुना, जो सिर साँटे देय।
लोभी शीश न दे सके, नाम प्रेम का लेय।।

लोभी शीश नहीं दे सकता, प्रेम का केवल नाम लेता है। रामचरितमानस का प्रसंग है। राक्षसों के आतंक से एक बार पृथ्वी व्याकुल हो गयी। वह गाय का रूप धारण कर देवताओं के पास गयी, विधाता के पास गयी। विधाता ने जान लिया कि यह क्यों आयी है। किन्तु विचार किया कि मैं भी कुछ उपाय नहीं कर सकता–

ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोरहु कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।।

(मानस, 1/183, छन्द)

जिसकी तुम दासी हो, वह अविनाशी है। हमारा-तुम्हारा रक्षक वही है, उस परमात्मा की शरण जाओ। इतना कहना तो आसान था कि 'शरण जाओ' लेकिन शरण जाने का तरीका, वह साधना-पद्धति किसी के पास नहीं थी, विधाता के पास भी नहीं थी। सब अनुमान लगाने लगे–

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।।

(मानस, 1/184/2)

किसी ने कहा– बैकुण्ठ जाओ, वहाँ परमात्मा मिलेंगे। किसी ने कहा– वह तो क्षीरसागर में रहते हैं।

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ।।
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।

(मानस, 1/184/4-5)

हे पार्वति! उस समाज में मैं भी था, वक्ताओं के कारण अवसर ही नहीं मिल पा रहा था। भोलेनाथ को समय मिला तो **'बचन एक कहेऊँ'**– उन्होंने एक सुझाव दिया कि भगवान बैकुण्ठ में नहीं रहते, क्षीरसागर में नहीं रहते। वह यहाँ भी विद्यमान हैं, सर्वत्र समान रूप से विद्यमान हैं। होंगे विद्यमान! हमारे किस काम के? हम कैसे दर्शन करें? तो, **'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'**– वह प्रेम से प्रगट हो जाते हैं। ऐसा हमने पढ़ा नहीं, सुना

नहीं बल्कि मैं जाना अर्थात् मैंने साक्षात् किया है। जहाँ देवताओं ने प्रेमसहित स्तुति किया, तुरन्त सुनवाई हो गयी, आकाशवाणी हुई–

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।।

(मानस, 1/186/1)

डरो मत! तुम्हारे लिए मैं अवतार लूँगा, भार हरूँगा। इस प्रकार भगवान को खोज निकालने की पहली कुंजी है प्रेम। पहली नियामत, पहला नवीन विचार प्रेमरूपी पानी लेकर आओ। प्रेम नहीं है तो **'बिना प्रेम रीझत नहीं तुलसी नन्द किसोर।'** प्रेम ही पानी है और कर्म ही कमण्डल है।

कर्म क्या है? हर महापुरुष के अनुसार **'क्वा कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारे।'** गीता के अनुसार योगविधि यज्ञ है, उस यज्ञ को क्रियान्वित करना कर्म है। कर्म माने आराधना! कर्म माने चिन्तन! यह चिन्तन सदा प्रेम से पूरित रहे।

दूसरी न्यामत आटा लाना, हाट बाजार के पास न जाना,
कूटा पीसा छाँड़ि के चेला, खप्पर भर के लाना।।

ख्याल ही खप्पर है। अनुरागरूपी आटा। इष्ट के अनुरुप लगाव में सदा ख्याल रहे, विचार अनुराग से भरपूर रहे, अन्य विचार न आवें– यही खप्पर भरकर लाना है ।

दूसरा नवीन सिद्धान्त है– आटा लाओ! अनुरागरूपी आटा। यह न तो कूटने से होगा, न पीसने से; यह न हाट में मिलेगा, न बाजार में। यह है अनुरागरूपी आटा।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ज्ञान बिरागा।।

(मानस, 7/61/1)

आप करोड़ जप करें, तप करें, वैराग्य करें; यदि अनुराग नामवाली योग्यता नहीं है तो प्रभु नहीं मिलते! अनुराग नहीं तो भगवान नहीं। अर्जुन ने जब भगवान श्रीकृष्ण के विराट् स्वरूप का दर्शन कर लिया तब भगवान ने कहा– अर्जुन! तू शोक मत कर। जिस स्वरूप को तुमने देखा है, तेरे

सिवाय पूर्व में न कोई देख सका है, न भविष्य में कोई देख सकेगा। तब तो गीता हमारे लिए व्यर्थ हो गई; क्योंकि ईश्वर के दर्शन की योग्यता अर्जुन तक ही सीमित थी। उसने कभी देख लिया था, दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग? जबकि इसके पहले ही अध्याय चार में भगवान कह आये हैं– अर्जुन! ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुत से लोग मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। और यहाँ कहते हैं कि तेरे सिवाय किसी ने देखा नहीं और भविष्य में भी कोई देख नहीं सकेगा। किन्तु अगले ही श्लोक में वह कहते हैं–

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ *(गीता, 11/54)*

अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा; अनन्य माने अन्य न, किसी देवी-देवता को न भजकर जो केवल मुझे भजता है उसके द्वारा मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने के लिए, स्पर्श करने के लिए और तत्त्व से प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ। वास्तव में अनन्य भक्ति का नाम ही अनुराग है। सृष्टि में जो लगाव होता है इसका नाम है राग, आसक्ति; और इष्ट के अनुरूप जो लगाव है उसका नाम है अनुराग। यदि इष्ट के अनुरूप सीधा लगाव नहीं है तो भगवान नहीं मिलते। यही है अनुरागरूपी अर्जुन। यह दैवी सम्पद् का एक सशक्त अंग है। अनुरागविहीन न तो पूर्व में देख सका है, न तो भविष्य में देख सकेगा। गीता आपके अंतःकरण की, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है; दैवी और आसुरी सम्पद् के संघर्ष का चित्रण है जिसमें अनुराग ही अर्जुन है। दूसरी नियामत, नवीन विचार अनुराग है। बिना लगन के हम प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते।

तिसरी न्यामत लकड़ी लाना, जंगल झाड़ के पास न जाना,
सूखी गीली छाँड़ि के चेला, गट्ठर बाँध के लाना॥

लवरूपी लकड़ी! यह झाड़ या वृक्ष से प्राप्त नहीं होती, न यह गीली या सूखी ही होती है। मनसहित इन्द्रियों का ज्यों–ज्यों संयम सधता जायेगा, त्यों–त्यों यह गट्ठर बँधता जायेगा।

लव लागत लागत लागी। भव भागत भागत भागी॥

लौ लगते–लगते ही लगती है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– यह दीर्घकाल तक श्रद्धा के साथ करते रहने से दृढ़ होता है–

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

(मानस, 1/21/4)

साधक लौ लगाकर जप करते हैं और अणिमादिक सिद्धि प्राप्त करते हैं। लगन अनिवार्य है। लगन मीरा की लग गई। उसे विष का प्याला दिया गया, शूली की शैया दी गयी, देश से निष्कासित किया गया किन्तु भगवान से उसकी टेक डिगी नहीं। इसका नाम है लगन, लौ। प्रह्लाद को पर्वत से गिराया गया, समुद्र में फेंका गया, आग में जलाया गया किन्तु उसकी लगन में फर्क नहीं आया। लौ वह कहलाती है कि इष्ट में सुरत टिकी रहे, श्रद्धा न डगमगाये। तीसरी नियामत लौरूपी लकड़ी लाना है। जब लगन भली प्रकार जागृत है तो उस लगन में अवरोध हैं मन की कालिमाएँ; इसलिए–

चौथी न्यामत कलिया लाना, जीव जन्तु के पास न जाना,
जिन्दा मुर्दा छाँड़ि के चेला, हण्डी भर के लाना॥

भुने या पके मांस को कलिया कहते हैं। मांस जीव-जन्तु के बिना मिलेगा नहीं। किन्तु इस पंक्ति में कहते हैं– **'जीव जन्तु के पास न जाना'**– जीवित या मृत पशु-पक्षी के पास नहीं जाना है। अब कलिया मिले कैसे? आध्यात्मिक सन्दर्भ में मन का कलुषित विचार ही कलिया है। हृदयरूपी हण्डी में भरकर कलुषित विचारों को गुरु महाराज के चरणों में समर्पित कर दो। यह मन जब अविद्या से संयुक्त होता है तो एकदम अंधकार की ओर ले जानेवाला होता है, प्रकृति की अनन्त योनियों में भटकानेवाला होता है। यही जब विद्या से संयुक्त होता है तो शुभ्र, पारदर्शी हो जाता है, ज्योतिर्मय परमात्मा की ओर ले चलनेवाला होता है। इसलिए जो सांसारिक वृत्तियाँ अभी तक पीछा कर रही हैं, उन्हें गुरु महाराज को समर्पित कर दें।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! संसार में मनुष्य केवल दो प्रकार का होता है– असुरों जैसा और देवताओं जैसा। मनुष्य की तीसरी कोई जाति होती ही नहीं। जिस हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह देवताओं जैसा है; जिसमें आसुरी सम्पद् कार्यरत है वह असुरों जैसा है। आपका एक सगा भाई असुर तो दूसरा सगा भाई देवता हो सकता है। अर्जुन! सच पूछो तो भूत-प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं– दैव और आसुर। **'दैवी सम्पद् विमोक्षाय'** *(गीता, 16/5)*– दैवी सम्पद् परम कल्याण के लिए होती है और आसुरी सम्पद् अधम योनियों में भरमाने के लिए होती है। अर्जुन! तू शोक मत कर। तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, तू मुझे प्राप्त होगा। आसुरी सम्पद्, अविद्या से युक्त, प्रकृति के घने अन्धकार से युक्त मन काला होता है। यह अपना गणित लगाता रहता है। इस करिया मन को मुझे समर्पित कर दो और जहाँ मन समर्पित किया तो अंदर विद्या, जिसका नाम है ब्रह्मविद्या – **'विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया'** *(प्रश्नोत्तरी, श्लोक 10)*– विद्या उसे कहते हैं जिसके पास आये उसे घसीटकर ब्रह्मगति प्रदान कर दे। वह पात्र सद्गुरु के लायक हो जाता है।

गुरु कहते हैं– इस कलुषित मन को हमें दे दो और बदले में उस विद्या को ले लो जो तुम्हें सहज स्वरूप प्रदान करे। सद्गुरु के गुरुत्व को प्राप्त करने के लिए मन के कचरे को उन्हें समर्पित कर दो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि गुरुजी कुछ और कह रहे हों और तुम अपने कचरे से प्रेरित होकर कुछ और ही कर रहे हो–

गुरु की आज्ञा उलंघि के, जो नर काहूँ जाय।
जहाँ जाय तहँ काल है, कह कबीर समुझाय।।

सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कर साधक यदि कहीं भी चला जाता है, साधक अपनी समझ से बहुत बढ़िया जगह जा रहा है, सुरक्षित स्थान को जा रहा है; किन्तु कबीर कहते हैं– वह तीर की तरह सीधे काल के मुँह में चला जा रहा है। साधक को भरमाया किसने? इसी कलुषित प्रवृत्ति ने! इसी को भेंट चढ़ा दो।

पाँचवीं न्यामत भगती लाना, वेद किताब के पास न जाना,
कहत कबीर सुनो भाई साधो, निर्मल होके आना॥

भक्ति किताबों से नहीं मिलती। ऐसा नहीं कि जन्मभर सुन्दरकाण्ड या हनुमान चालीसा ही पढ़ते रह गये और हो गयी भक्ति! जितने भी प्राप्तिवाले महापुरुष हुए हैं, प्रायः वे पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्हें भगवान पढ़ाते हैं। महापुरुष जब अपनी स्थिति पा जाता है, वह जो लेख प्रस्तुत करता है वह आँखों देखा हाल होता है। जब वह लिखने में आ जाता है उसी का नाम शास्त्र है। वह शास्त्र, वह किताब भी वहाँ काम नहीं देती; क्योंकि रोज साधना की स्थिति क्या है? क्या विघ्न आ रहा है? क्या निवारण है?–उसे भगवान पढ़ाते हैं। साधक की किताब उसके हृदय-देश में प्रतिदिन उतरती रहती है। इसलिए भक्ति तो लाना है किन्तु बाहरी किताबों तक सीमित मत रह जाना।

विभक्त माने होता है विभाजन। भक्ति का आशय है जुड़ना। जिस परमात्मा से बिछड़े हो, उनसे आपकी सुरत जुड़ जाय। जहाँ सुरत जुड़ गयी तो तीरथ अपना फल दे चुका। अब सुरत जुड़ी है तो डोर लगी रहे जब तक भगवान पीठ न ठोंक दें, जब तक भगवान यह न कह दें कि बेटा! यही है धाम और यह है तुम्हारा स्वरूप। यह स्वरूपवाला सर्टिफिकेट भगवान स्वयं देते हैं। यही सम्पूर्ण सत्य है। यही गीतोक्त साधन का सार है।

गुरु महाराज का कहना था– भगवान तुम्हें साधु कहें तो तुम साधु हो। और यदि भगवान न कहें तो दुनिया चाहे कितना ही फूल बरसाये, तुम्हें रोने को आँसू नहीं मिलेगा, कुछ भी नहीं पाओगे। आत्मा तुम्हें साधु कहे तो सब कुछ पा जाओगे, दुनिया कहे चाहे न कहे। यह सम्पूर्ण साधना गीता में सुरक्षित है। इसलिए **'कहत कबीर सुनो भाई साधो! निर्मल हो के आना'**। सद्गुरुओं के सामने जो दक्षिणा लेकर पहुँचना है वह है पहले प्रेमरूपी पानी, अनुरागरूपी आटा, लौरूपी लकड़ी। लौ लग गयी तो करोड़ ब्रज पड़े लेकिन लक्ष्य से दृष्टि न चलायमान हो। मन की कलुषित वृत्ति

कलिया उन्हें अर्पित कर दो और बदले में गुरुदेव जो दें, उसे धारण कर लो। यही गुरु-दक्षिणा है।

महापुरुष कभी कुछ लेते ही नहीं। उनके न लड़के-बच्चे हैं और न नाती-पनाती। वे वस्तु लेकर क्या करेंगे? जो उनके समर्पित शिष्य हैं वही उनके पुत्र हैं। महापुरुष परहित कातर होते हैं। केवल समर्पण जहाँ किया, बदले में गुरु का गुरुत्व आप में प्रसारित हो जायेगा जो मोक्ष देकर ही दम लेता है।

गुरुपूर्णिमा सम्पन्न हो जाने पर अनुसुइया आश्रम से जब भीड़ लौट जाती तब भी पाँच-सात लोग रुके ही रहते थे। महाराज जी उन्हें दो-चार दिन तक तो कुछ न कहते, अंततः कहते– ''बेटा! जाना तो पड़ेगा। घरो जाय के पड़ी। घर-गृहस्थी भी देखे के पड़ी, बगैर देखे बनबौ न करी। जाओ घर!'' दो-चार भक्त चले जायँ, फिर भी दो-तीन बच जाते।

महाराज जी दो-एक दिन उन्हें भी कुछ न कहते। जब वह समझते कि इनके मन में उच्चाटन हो रहा है तब उनसे कहते– ''क्यों रे! मन तो घर भाग रहा है। जाओ शरीर से कहीं रहो, मन से आया-जाया करना। साझों-विहान पाँच मिनट मेरा रूप देख लिया करो। ओम्, राम या शिव में से किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम का जप कर लिया करो।.....'' [वैदिक ऋषि ओम् जपते थे। ओ अर्थात् वह परमात्मा, अहं अर्थात् आप स्वयं। जिस परमात्मा का निवास आपके हृदय-देश में है। यदि मुंबा देवी जपेंगे तो उनके दर्शन के लिए मुंबई पहुँच जायेंगे। यदि आप पशुपतिनाथ जपते हैं तो नेपाल चले जायेंगे क्योंकि वह नेपाल में निवास करते हैं किन्तु ओम् का आशय वह परमात्मा जिसका निवास आपके हृदय-देश में है। यदि उन्हें देखना चाहेंगे, वह बाहर कहीं नहीं मिलेंगे। आपको अपनी वृत्तियों को हृदय में समेटना पड़ेगा–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ *(गीता, 8/12)*

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को संयमित कर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, अन्तःकरण में योगविधि को धारण कर–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ *(गीता, 8/13)*

अर्जुन! ओम् जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप करते हुए और **'मामनुस्मरन्'**– मेरे स्वरूप का ध्यान धरते हुए **'त्यजन्देहं'**– जो देहाध्यास का त्याग कर जाता है, **'स याति परमां गतिम्'**– तत्क्षण परमगति को प्राप्त हो जाता है। जिसका नाम परमतत्त्व परमात्मा है, उसी गति को प्राप्त हो जाता है। अतः जपते-जपते यदि हमारे मन में कामना हो गयी कि ओम् को देखें तो संयम करके हृदय-देश में जाना पड़ेगा। इसलिए जो भी नाम उस परमात्मा का परिचायक है, वह किसी भाषा में हो सकता है, वह दो-ढाई अक्षर का नाम जो सीधा उस परमात्मा को पुकारता हो, छोटा नाम इसलिए कि आगे चलकर नाम स्वाँस से जपा जाता है इसलिए ऐसे किसी नाम का जप कर, प्रातः-सायं मेरे स्वरूप का ध्यान धर] जिस दिन दो मिनट भी देख ले जाओगे, जिसका नाम भजन है, योग-साधना है, वह मैं तुम्हें यहाँ बैठे-बैठे दे दूँगा और तुम घर बैठे-बैठे पा भी जाओगे।'' भजन एक जागृति है। सद्गुरु के द्वारा इस जागृति को प्राप्त करने के लिए उन्हें केवल मन का समर्पण कर दें, उनकी आज्ञा का पालन करें और उनके हाथ का यन्त्र बनकर चलें।

बाल्मीकि ने सप्तर्षियों को क्या गुरु-दक्षिणा दी थी? अंगुलिमाल ने भगवान बुद्ध को क्या दे दिया? जीवन के आरम्भिक वर्षों में बाल्मीकि दुर्दान्त दस्यु थे। एक आख्यान में है कि पहले उनका नाम रत्नाकर था। उन्होंने इतना डाका डाला कि डकैती का समुद्र बना दिया। कोई बड़ा विद्वान् होता है तो नाम पड़ता है विद्यासागर। वह डाकुओं के रत्नाकर हो गये। बड़े-बड़े राजा उसका पीछा करते ही रह गये, उसे कभी नहीं पा सके। लोगों ने उस जंगली रास्ते को ही छोड़ दिया जहाँ उसका अड्डा था।

कुछ काल पश्चात् सप्तर्षि वहाँ से गुजरे। वह झाड़ियों से झपटकर निकला, बोला– ''खबरदार! जो कुछ भी लिये हो, रख दो।'' महात्माओं ने हाथ उठाया– ''आयुष्मान् भव! इन झाड़ियों में क्या कर रहे हो?'' वह बोला– ''उपदेश की जरूरत नहीं है। जो कुछ लिए हो, यहाँ पर रख दो।'' महात्माओं ने कहा– ''इतना जघन्य अपराध, जिसका परिणाम रौरव नरक है, क्यों कर रहे हो? किसके लिए कर रहे हो?''

उसने कहा– ''बाल-बच्चों के लिए। बाल-बच्चे न होते तो मैं यह धन्धा ही नहीं करता। मुझे अपने लिए किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।'' महात्माओं ने पूछा– ''क्या बाल-बच्चे तुम्हारे इस पाप में भी भागीदार हैं?'' उसने कहा– ''क्यों नहीं! वे अवश्य भागीदार होंगे।'' महात्माओं ने कहा– ''पहले उनसे पूछ तो आओ।'' उसने कहा– ''वाह! रत्नाकर को भी चकमा। मैं पूछने जाऊँ और तुम हो जाओ फरार।'' महात्माओं ने कहा– ''बेटा, तुझे जैसे भी सन्तोष हो, कर डाल।''

रत्नाकर ने चमकीली, मजबूत रस्सियाँ निकालीं। सातों को सात वृक्ष में बाँध दिया और घर की ओर बढ़ चला। वह चिन्ता में पड़ गया कि आज इन बाबा लोगों ने अच्छा फँसा दिया; किन्तु महात्माओं की बातों में दम है। बेटे को काँटा चुभता है तो कसक माता-पिता के दिल में होती है। बहुत से मासूम बच्चों को हमने माँ-बापविहीन किया है, यह पाप तो है। उसने अपनी पत्नी से पूछा– ''मैं जो लूटकर लाता हूँ, इसमें बहुत-सी हत्याएँ हो जाती हैं। इस पाप का परिणाम रौरव नरक है। तुम इस पाप की भागीदार हो या नहीं?'' पत्नी उस पर बहुत बिगड़ी– ''तब तो अग्नि का फेरा देकर लाये थे। आपने कहा था– मैं सब आवश्यकताओं की पूर्ति करूँगा। हमने कब कहा था डाका डालो। भला काम क्यों नहीं करते हो? हम भी धरम-करम करते हैं। हम पाप के भागीदार नहीं हैं। काम आपका, दायित्व भी आपका।'' बाल्मीकि को बड़ी ठेस लगी कि जब माल-पानी लाता था तो यही बीघाभर आगे दौड़कर चरण छूती थी, गठरी अपने शिर पर रख लेती थी, कहती थी– आप थक गये होंगे; आज यह अच्छी बाघिन हो गयी।

वह तुरन्त अपने वृद्ध पिता के पास पहुँचकर बोला– ''पिताजी! क्या आप जानते हैं कि यह च्यवनप्राश, यह दूध और दवा-दारू कैसे आता है? मैं डाके डालता हूँ जिसमें बहुत-सी अप्रिय घटनाएँ घट जाती हैं, जिसका परिणाम रौरव नरक है। क्या इस नरक में आप भी भागीदार होंगे?'' वह बुजुर्ग बहुत बिगड़े– ''क्या जमाना आ गया है? कभी श्रवणकुमार जैसे पुत्र हुए जो अपने माँ-बाप को पापमुक्त कराने के लिए तीर्थभ्रमण कराते थे, तू ऐसा नालायक पैदा हो गया कि मुझे पाप परोस रहा है! मैं तो वैसे ही नरक भोग रहा हूँ। दिन किसी तरह बीत जाता है तो रात काटे नहीं कटती। जब पुरवइया हवा चलती है तो गठिया और भी जोर पकड़ लेती है। भाग यहाँ से!''

उसने बच्चों से भी यही प्रश्न रखा तो उन्होंने कहा– ''पाप-पुण्य अपने पास रखिए। खाने की कोई अच्छी वस्तु हो तो इधर बढ़ाइए और न हो तो जाइए।'' अब तो उसका दिल टूट गया। अत्यन्त खिन्न और उदास होकर वह सन्तों की ओर चला। उसने जीवन में कभी कोई पुण्य नहीं किया था। आज पहली बार वह सन्तों को लूटने नहीं, उनका दर्शन करने चला–

संत मिलन को जाइये, तजि ममता अभिमान।
एक एक पग आगे बढ़े, कोटिन्ह यज्ञ समान॥

कभी का दुर्दान्त दस्यु, जंगल में श्रद्धा भाव से एक-एक कदम आगे बढ़ाते हुए ऋषियों के चरणों में गिर पड़ा– भगवन्! मेरे जैसे चाण्डाल का क्या उद्धार हो सकता है? सप्तर्षियों ने कहा– बेटा! तुम पापी नहीं हो, तुम अनजान थे। तुम्हें बोध ही नहीं था कि पाप क्या है, पुण्य क्या है? अनजाने में तो सर्प पर भी पाँव पड़ जाता है। खतरा भी हो जाता है। अब ऐसा करो कि तुम कहो– राम! वह जन्मभर का पापी, राम का नाम उसके मुख से निकलता ही न था। किसी तरह वह बोल पाया 'म'। और कोशिश करो तो वह बोला 'रा'। दोनों मिलाकर पढ़ो तो बोला– 'मरा'। ऋषियों ने कहा– ठीक है, तुम 'मरा' ही कहते रहो। हमलोग लौटकर न आयें तब तक यहाँ से हटना मत। झील का पानी पीना, पत्तियाँ और कन्दमूल खाना। किसी की ओर देखना मत! केवल यह 'मरा–मरा' जपते रहना।

बारह वर्षों पश्चात् सप्तर्षि पुनः आये। उन्होंने देखा, दीमकों ने वहाँ बाँबी बना लिया था। उन्हीं के मध्य बाल्मीकि बैठे थे, समाधि लग गयी थी।

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥

(मानस, 2/193/8)

उन्होंने 'मरा-मरा' जपना आरम्भ किया था। यह उलटा नाम 'मरा–मरा' पता नहीं कब 'राम-राम' में बदल गया, राम ध्यान में और ध्यान समाधि में बदल गया– **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'**

भगवान राम वनवासकाल में वन में गये। वहाँ ऋषि लोग भगवान से मिले। उनमें बहुत से ऋषि भगवान के चरणों में लेट गये। कुछ विभूतियाँ ऐसी थीं जहाँ प्रभु ने सादर हाथ जोड़कर नमन किया किन्तु जब बालमीकि के आश्रम में भगवान पहुँचे–

मुनि कहुँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबादु बिप्रवर दीन्हा॥

(मानस, 2/124/1)

जो बाल्मीकि जीवन के आरम्भिक वर्षों में जघन्य पापी थे, भजन कर उन्होंने ही विप्र की ही नहीं, विप्रवर की स्थिति प्राप्त कर ली। विप्र या वर्ण कोई जाति नहीं है, आपकी आकृति है। यदि भजन नहीं करते तो सभी जीव-स्तर के ही हैं, वर्ण कदापि नहीं। वर्ण साधक के साधना का स्तर है। (देखें– **यथार्थ गीता,** 4/13)

॥ ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

तुम चलो दिवाने देस

भगवान का दर्शन, उनका स्पर्श और उनमें स्थिति प्रत्येक साधक की चाहत होती है; पर यह इतना आसान नहीं है। इसकी दुर्लभता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

गये हजारों लोग चितचोर चाह तेरी करते-करते।
पर न मिला दीदार कूच कर गये ध्यान धरते-धरते॥

कोई कहे हम पक्के हिन्दू शिखा सूत्र धारण करते,
कोई कहे हम मुसलमान बस दाढ़ी पर अकड़े फिरते।
आपस में दोऊ लड़कर मर गये राग-द्वेष करते करते,
पर न मिला दीदार.....॥

पंडित कवि कोविद रहे अनजान शास्त्र पढ़ते-पढ़ते,
वेद पुरान कुरान हुए हैरान ब्यान करते-करते।
पर न मिला दीदार.....॥

सतगुरु की जब दया हुई अनेक जनम साधन करते,
लखा दिया एक पल में जिसे चार वेद वर्णन करते।
गये हजारों लोग.....,
पर न मिला दीदार.....॥

लगता है सद्गुरु की दया से एक पल में ही भगवान मिल जाते हैं; किन्तु दया की स्थिति तक पहुँचने में भी कई जन्म लग जाते हैं। अनेक जन्म साधन करने के पश्चात् दया हुई और तब **'लखा दिया एक पल में जिसे चार वेद वर्णन करते।'**

यह वेद, पुरान, कुरान इत्यादि पुस्तकों के अध्ययन से परमात्मा नहीं मिलते। यह तो भगवान के लिए श्रद्धा जागृत करने के उपकरण मात्र हैं जिनसे समर्पण की प्रेरणा मिलती है। समर्पित हो जाने के बाद शास्त्र अपना

कार्य कर चुका। प्रभु-मिलन के लिए ये पर्याप्त नहीं हैं। मिलने के लिए तो सद्गुरु की दया चाहिए; वह भी जन्म-जन्मान्तरों में साधन करते-करते दया की स्थिति में प्रवेश मिलता है।

भगवत्-पथ में मज़हब और सम्प्रदायों का कोई मूल्य नहीं है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन इत्यादि संगठन अच्छे महापुरुषों के पीछे सिमटा समाज है, जिनमें लोग परमात्मा की शोध को भूलकर परस्पर राग-द्वेष में उलझे पड़े हैं। साम्प्रदायिक संकीर्णता से प्रभु का स्वरूप तो नहीं दिखायी पड़ा? उसका तो एक ही तरीका है– सद्गुरु की शरण। उसके बाद जब साधना जागृत हो गयी तो प्रभु से मिलने का एक ही तरीका है– भजन की मस्ती! लगन ऐसी हो कि उसके पीछे उन्मत्त हो जायँ। गुरु महाराज की विद्या जिसे उपलब्ध है, उसे विरही (दीवाना) हो ही जाना चाहिए। इसी आशय का एक भजन सन्त कबीर का है–

अलख सँग मिलिहो, तुम चलो दिवाने देस॥

संत सदा उपदेश बतावें, घट अंदर दीदार करावें।
तन मन अर्पण करिहो, तुम चलो दिवाने देस॥

शब्द विहंगम बाजे तूरा, कोटि भाँति जहँ भभके नूरा।
बंक नाल सुधि करिहो, तुम चलो दिवाने देस॥

सुखमन सेज विहंगम सीढ़ी, माया गस्त करे चहुँ फेरी।
भरम भूलि मत रहियो, तुम चलो दिवाने देस॥

या पद का जो अरथ बिचारे, कह कबीर वे दास हमारे।
कोउ नाम का व्यवहारी मिलिहो, तुम चलो दिवाने देस॥

सभी भगवान को चाहते हैं, उनका दर्शन चाहते हैं, उनका आशीर्वाद चाहते हैं; लेकिन वे मिलते दिखाई नहीं देते। सन्त कबीर कहते हैं कि तुम अवश्य उनका दर्शन पाओगे, उनमें विलय भी पा जाओगे। केवल एक काम करो – **'तुम चलो दिवाने देस।'** दीवाना का यहाँ आशय है विरही! भगवान के विरह में विकल! जैसा कि मीरा ने कहा था– **'हे री, मैं तो प्रेम**

दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।' वह पागल नहीं थी, भगवान के प्रेम में विकल थी।

रामचरितमानस के वर्णन से स्पष्ट होता है कि शबरी उसी श्रेणी में थी। वह भगवान के लिए रास्ते में रोज फूल बिछाती थी। उसके गुरुभाई और समकालीन संत उसे पगली कहते थे जबकि उसे लगता था कि भगवान अभी आ ही रहे हैं। एक दिन भगवान उसी रास्ते से आये भी! भगवान रास्ता बदलकर सीधा शबरी के पास पहुँचे, दर्शन दिया। शबरी ने अपना परिचय दिया–

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।

(मानस, 3/34/3)

एक तो अधम कोल-किरात, उससे भी अधम मैं नारी हूँ। उससे भी अधम मैं बुद्धि की मन्द हूँ। भगवान राम ने कहा–

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।।

(मानस, 3/34/4)

हे भामिनि! मैं केवल भक्ति का रिश्ता जानता हूँ। भक्ति के नौ अंग हैं। उनमें से एक भी जिसके पास होता है वह मेरा परमप्रिय होता है; और **'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।'** *(मानस, 3/35/7)* इसलिए तुम मेरे धाम जाओ। शबरी धाम चली गयी। शबरी भगवद्प्रेम में इतनी दीवानी थी कि लोगों ने उसे पगली छोड़ कुछ कहा ही नहीं। भगवान ने उसे दर्शन दिया, अपने धाम भेज दिया। जंगलभर के ऋषि-महर्षि उस धूलि को शिर पर चढ़ाने लगे जहाँ वह परमधाम को गयी। वह गीता पढ़ी नहीं थी। थी एकदम अँगूठा छाप।

महर्षि बाल्मीकि के भी पढ़ने-लिखने का इतिवृत्त नहीं मिलता। कहा जाता है कि भगवान राम बाद में जन्मे, रामायण उन्होंने पहले ही लिख दिया। उनका स्वरूप बोलता था, आकाश बोलता था। उनके हृदय में प्रकट हो गया कि भविष्य में क्या होनेवाला है। सब अनुभव में उतर आया। अस्तु,

ईश्वर-पथ में आप विद्वान् हैं तो बने रहें, भगवत्पथ में उसका बहुत उपयोग नहीं है। यदि आप पढ़े-लिखे नहीं हैं तब भी कोई क्षति नहीं है। वहाँ तो केवल प्रेम चाहिए। पथिक को प्रभु के विरह में खोया हुआ होना चाहिए, दीवाना होना चाहिए।

जड़भरत राजकुल से थे। पुत्र को राजपाट सौंपकर सन्त हो गये। सन्त भी ऐसे कि शनैः-शनैः शरीर से वस्त्र उतरते गये। एक वृक्ष के नीचे हाथ का सिरहाना लगाकर पागलों की तरह पड़े रहते थे – सदैव चिन्तन में अनुरक्त!

रामचरितमानस में है कि भगवान राम के अनुज भरत उनकी खड़ाऊँ लेकर चित्रकूट से नन्दीग्राम आये और चिन्तन में डूब गये–

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेज बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥

(मानस, 2/324/1-2)

खान-पान से बढ़नेवाला शरीरबल हल्का हो रहा था; किन्तु **'बढ़त धरम दलु मनु न मलीना।'**– धर्म का दल बढ़ रहा था, उनकी मानसिक प्रसन्नता वही थी। चौदह वर्ष पश्चात् हनुमान ने भरत को उसी स्थिति में पाया–

बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात॥

(मानस, 7/1 ख)

भरत की आँखों में आँसू और हृदय में स्वरूप था।

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

(मानस, 7/1/1)

हनुमान को रोमाञ्च हो आया, प्रेमाश्रु छलक आये–

मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥

(मानस, 7/1/2-3)

जिसके विरह में आप दिन-रात रहते हो, जिनके गुणों की पंक्ति को रटते ही रहते हो, शत्रु को जीतकर वही प्रभु राम आ गये। जहाँ इतना सुना कि सीता और अनुज सहित प्रभु राम आ गये, भरत का सारा दुःख दूर हो गया–

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।।

(मानस, 7/1/6)

जैसे जल का प्यासा अमृत पा गया हो। भरत इसी कोटि के दीवाने थे। चौदह वर्ष पूर्व जो दशा थी, चौदह वर्ष पश्चात् हनुमान ने भरत को उसी दशा में पाया। लेकिन जब भगवान मिल गये, उसके पश्चात् भरत ने पुनः कभी आँख नहीं मूँदा, फिर कभी नन्दीग्राम में नहीं गये। वे मुकुट पहनकर मस्ती में रहे– **'जब उतरि पुतरि भये पारा। तब सदगुरु कौन हमारा।।'** अब तो **'भजन हमार हरि करें, हम पायो विश्राम।'** पेन्शनीयर हो गये।

मीरा दीवानी थी– **'हे री, मैं तो प्रेम दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय।'** आशय यह है कि भगवान के प्रेमी भक्त, अंतरंग भक्त, विरही भक्त जिस-जिस रास्ते से, जिस चाल से चले गये उसी देश में तुम भी चलो तो अलख, अगोचर और अचिन्त्य जो परमात्मा है, उसका संग पा जाओगे और उसमें स्थिति भी प्राप्त कर लोगे।

विश्व में सन्तवेष में तो करोड़ों हुए; किन्तु उनमें से यदि किसी का कीर्तिमान् मिला है तो उन दीवानों का मिला। जैसे रामकृष्ण परमहंस जिन्हें उनके जीवन के पूर्वार्द्ध तक लोगों ने पागल समझा; किन्तु वह पागल नहीं थे, भगवान के चिन्तन में डूबे हुए सन्त थे। उनके आशीर्वाद से स्वामी विवेकानन्द इत्यादि कई सन्त हुए। उन महापुरुष की जो वाणी थी, उसे उन्होंने प्रस्तुत कर दिया।

आज भी जिन्हें परमात्मा की आवश्यकता है, उस पथ पर अवश्य चलेंगे; किन्तु उस देश में जाने का रास्ता कौन बतायेगा? इस पर कहते हैं–

संत सदा उपदेश बतावें, घट अन्दर दीदार करावें।

ईश्वर-पथ में जाने का रास्ता सदैव सन्तों से मिला है, ऐसा उपदेश संत करेंगे। जड़भरत ने राजा रहूगण से कहा– राजन्! किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के चरणों की धूलि में लोटे बिना वह साधना जागृत ही नहीं होती, एक परमात्मा के पथ में चलने की विधि का आरम्भ ही नहीं होता। ईश्वर के रास्ते में कैसे चलें?– यह रास्ता अनादिकाल से सन्त ही बताते चले आये हैं। उन सन्तों के उपदेश में भगवान काशी में नहीं रहते, अयोध्या में या बद्रीनाथ में नहीं रहते। उनके उपदेश का भगवान सदैव हृदय में रहता है– **'घट अन्दर दीदार करावें'**। वे केवल कहते नहीं कि भगवान हृदय में हैं। केवल कहने से क्या लाभ? वह उनका साक्षात् करा देता है, अतः–

तन मन अर्पण करिहौ, तुम चलो दिवाने देस।

सन्तों के पास आप फल-फूल लेकर जाते हैं, श्रद्धा निवेदित करते हैं, यह उचित है; किन्तु यदि आप सचमुच साधना में प्रवृत्त होना चाहते हैं तो तन लेकर जाओ, मन लेकर जाओ, उन्हें अर्पित कर दो, गुरु के हाथ का यंत्र हो जाओ। जैसे– यह पात्र हमारे हाथ में है अब इसमें हम चाहें तो चाय भर दें या इसे उठाकर फेंक दें, इसे कोई आपत्ति नहीं होगी। पत्र-पुष्प या कोई वस्तु आपने हमें अर्पित कर दिया तो यह हमारी हो गयी या अभी आपकी है? अस्तु, तन और मन आपने अर्पित कर दिया तो यह उनका हो गया। इसके पश्चात् हमारी बुद्धि मात्र यंत्र है। सद्गुरु जैसी प्रेरणा करें, हमें बस उतना ही करना है।

तन-मन का अर्पण करनेवालों में राजा जनक का नाम अग्रगण्य है। एक बार उन्होंने स्वप्न देखा कि वह फुटपाथ पर भीख माँग रहे हैं। दिनभर भीख माँगा, फिर भी शाम को पेट नहीं भरा। आधा पेट खाकर वह फुटपाथ की धूलि और गर्दे में ही सो गये। आँख खुलने पर उन्होंने अपने को राजमहल में ही पाया। उन्हें चिन्ता हो आयी– कहीं यह स्वप्न सत्य न हो जाय! किसी निश्चय पर न पहुँच पाने से उन्होंने विद्वानों की गोष्ठी बुलाकर पूछा– मैं जो कर रहा हूँ वह सत्य है, या जो देखा है? अब किसे क्या मालूम कि यह क्या कर रहे हैं और इन्होंने क्या देखा? कतिपय विद्वानों ने अनुमान

के आधार पर उपदेश देना चाहा। जनक को उन सबसे बड़ी निराशा हुई। उन्होंने कहा– ये हमारे राष्ट्र के ही नहीं, पृथ्वी के भार हैं; इतनी सी बात ये नहीं बता पाये। इन्हें कारागृह में डाल दो। वे सब लगे जेल में चक्की पीसने। उन दिनों अनाज पीसने के कल-कारखाने न थे। फौज़ का भरण-पोषण कैदियों द्वारा चक्की चलाने से होता था, इसलिए कैदियों को इस कार्य में नियुक्त किया जाता था।

विद्वानों के पश्चात् ऋषियों, महर्षियों का भी क्रम आया। अष्टावक्र के गुरु कहोड़ ऋषि भी जेल में डाल दिये गये। छः महीने पश्चात् अष्टावक्र जंगल से अपने आश्रम पर आये। उन्होंने पूछा– गुरुदेव कहाँ हैं? अन्तेवासियों ने बताया– छः माह पहले जनक की सभा में शास्त्रार्थ करने गये थे। तब से वह नहीं लौटे।

अष्टावक्र सीधे राजमहल पहुँचे। द्वारपाल ने राजा को सूचित किया कि उनके प्रश्न का उत्तर देने कोई महात्मा पधारे हैं। जनक बहुत प्रसन्न हुए कि छः महीने का सन्नाटा तो टूटा। किसी ने मेरे प्रश्न का उत्तर देने का साहस तो किया। सभासद भी राजा के साथ चले आये। अष्टावक्र के रूप-रंग और चाल-ढाल को देख राजा को हँसी आ गयी। जब महाराजा ही हँस पड़े तो सभासदों को हँसना ही था। कुछ तो सचमुच हँसे और अधिकांश राजा की हाँ में हाँ मिलाने के लिए केवल औपचारिकतावश हँसे। बड़े आदमी हँसते हैं तो संग साथ के लोगों को भी हँसना पड़ जाता है। जब सबकी हँसी रुकी तो अष्टावक्र लगे अकेले ही खूब हँसने।

राजा ने समझ लिया– यह है तो पागल! अकारण ही हँसे जा रहा है। फिर भी उन्होंने पूछ लिया– महात्मन्! आप हँसे क्यों? अष्टावक्र ने कहा– राजन्! पहले तुम और तुम्हारे सभासद हँसे इसलिए पहले तुमलोग अपने हँसने का कारण बताओ, तत्पश्चात् मैं भी अपने हँसने का कारण स्पष्ट कर दूँगा। राजा ने कहा– महाराज! क्षमा कीजिएगा। आपसे पहले यहाँ एक से एक मोटे-ताजे, सुगठित शरीरवाले धुरन्धर विद्वान् मोटी-मोटी पोथियाँ लेकर आये, वह सब यहाँ जेल में चक्की पीस रहे हैं। उनकी तुलना में आपका

ठिगना शरीर, टेढ़े-मेढ़े हाथ-पाँव, कई जगह से मुड़ा हुआ शरीर, आँखें पीछे की ओर उलट गयी हैं, दाँत खुरपी की तरह! आप चलते हैं तो शरीर में कई जगह लहर पैदा हो जा रही है। आपकी चमड़ी का आकार देख हमलोगों को हँसी आ गयी।

अष्टावक्र ने कहा– राजन्! हमने सुन रखा था कि जनक की सभा ज्ञानीजनों की, विज्ञपुरुषों की सभा है लेकिन हमें देखने को कुछ और ही मिला कि आपकी यह सभा चमारों की सभा है; क्योंकि आप सब चमड़ी की पहचान बहुत बढ़िया कर लेते हैं। यह मानव-शरीर एक दुर्लभ तन है–

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

(मानस, 7/42/7-8)

बड़े भाग्य से मानव-तन मिला है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है। देवता भी इस तन से आशावान् हैं। यह साधन का धाम है। यह नहीं कि कौन-सा साधन करके आये हैं। उत्तर प्रदेश में कहते हैं कि साधन अर्थात् बस-टैम्पो से आया और अपनी सवारी से आने पर कहेंगे कि गाड़ी से आया हूँ। बाँदा जिले में आटा-भाँटा जुटाने को कहते हैं कि साधन जुटा रहा हूँ। ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ साधन वह है जो मोक्ष प्रदान कर दे। उसके लिए विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, समर्पण जो भी ईश्वर-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं, उस सम्पूर्ण साधन के लिए उपयुक्त शरीर सजा-सँवारकर भगवान ने भेजा है। दुर्लभ मानव-तन को भगवान ने जिस कमी की पूर्ति के लिए दिया है, राजन्! मैं उसी कार्य में प्रवृत्त हूँ। शरीर तो एक वस्त्र है। क्या इसमें निवास करनेवाली आत्मा के दाँत खुरपी की तरह हैं? क्या उसकी आँखें उलट गयी हैं? क्या उसके हाथ-पाँव उलटे-सीधे हैं? जो सर्वत्र देखता है, सर्वत्र सुनता है, सर्वत्र कार्य करता और सर्वत्र गतिशील है, क्या हमारे उस आत्मा में भी कोई कमी है? हमें इसीलिए हँसी आ गयी, राजन्!

जनक ने सोचा– यह महात्मा तो बहुत आगे हैं, सचमुच के महात्मा लगते हैं। उन्होंने कहा– भगवन्! मेरे प्रश्न का उत्तर? ऋषि ने कहा– राजन्!

पहले कुछ दान-पुण्य करें, फिर उत्तर ले लें। राजा ने कहा– मंत्रीप्रवर! इन महाराज को पचास हजार गाय दान कर दो। ऋषि बोले– गाय नहीं, तुम अपनी कोई निजी वस्तु दान कर दो। राजा ने कहा– इन्हें आधा राज्य दे दो। अष्टावक्र ने कहा– कभी राज्य देता है तो कभी गाय! अपनी कोई वस्तु क्यों नहीं देते?

सभासद मुस्कराने लगे। उन्होंने सोचा– यह बाबा जंगली प्रतीत होता है। इसे पता नहीं कि महाराजाधिराज किसे कहते हैं! एक ने कहा– महात्मन्! यह मालिक हैं। सब इन्हीं का है। ऋषि ने कहा– तुमलोग चुप रहो। इनसे पहले इस राज्य के राजा कौन थे? सभासद ने कहा– इनके पिता यहाँ के यशस्वी नरेश रहे हैं। अष्टावक्र ने पूछा– और उनसे पहले? सभासद जनक राजा के सात-आठ पीढ़ियों को गिना ले गया। ऋषि बोले– इन महाराज के पश्चात् इनके सिंहासन पर कौन विराजेगा? सभासद ने कहा– अभी तो कोई सन्तान नहीं है। यदि होगी तो वह गद्दी पर बैठेगा अन्यथा जैसी हरि की इच्छा। अष्टावक्र ने कहा– जिसके दावेदार आते गये, चलते गये – यह राज्य जब उन्हीं का था तो इसे वे अपने साथ लेकर क्यों नहीं गये? इनकी भी घड़ी टल रही है। इन्हें भी सब यहीं छोड़कर जाना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह कोई अपनी वस्तु दें।

तब जनक ने हाथ जोड़कर प्रार्थना किया– भगवन्! मेरे पास अपना क्या है, आप ही बतायें। अष्टावक्र ने कहा– राजन्! अपना मन दान कर दो। राजा ने जल लेकर तत्काल संकल्प कर दिया। अष्टावक्र ने उसे स्वीकार किया और थोड़ी दूर जाकर एक आसन पर बैठकर ध्यानस्थ हो गये।

जनक लगभग एक घड़ी (24 मिनट) तो खड़े रहे। उन्हें क्रोध आने लगा। उन्होंने सोचा– औरों को तो मैंने कारागार में बन्द किया है, इन्हें तो फाँसी दूँगा। देखो न, हमनें इन्हें मुँहमाँगा दान दिया फिर भी इन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर अभी तक नहीं दिया, बैठने तक को नहीं कहा। मैं समझ रहा था कि आँख बन्दकर यह मेरे प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ रहे हैं; किन्तु अब तो बहुत देर हो गयी।

इतने में जनक के हृदय में प्रेरणा हुई– जब मन का दान दे दिया तो यह योजना कौन बना रहा है? यह फाँसी कौन दे रहा है? लगता है हमने केवल संकल्प किया है, मन इन्हें दिया नहीं। वह अष्टावक्र के स्वरूप की ओर देखने लगे। देखते-देखते जनक ध्यानस्थ हो गये। सायं होते-होते ध्यान जम गया। ध्यान की उस प्रगाढ़ अवस्था में जनक के हृदय में प्रेरणा हुई– देख! जो रोज करता है, राजपाट नश्वर है और जो फुटपाथ दिखायी पड़ा, वह भी नश्वर है। यह सिंहासन पर बैठना और भिक्षाटन– दोनों ही जन्म और मृत्यु के बीच के पड़ाव हैं। कोई सिंहासन पर बैठकर जीवन के दिन पूरे करता है तो कोई फुटपाथ पर जीवन काट लेता है। दोनों में कोई भी सत्य नहीं है। इस समय जो ध्यान-चिन्तन कर रहे हो, यही सत्य है। थोड़ा परिश्रम और करो, तुम अपने स्वरूप को प्राप्त कर लोगे; जहाँ जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है। तुम सदा रहनेवाली शान्ति, सदा रहनेवाला जीवन और धाम पा जाओगे। इसके लिए प्रयत्न करो।

उनके उपदेश का अनुपालन कर जनक राजर्षि हो गये। महर्षियों के यहाँ जब कोई प्रश्न उलझ जाता था, वे समाधान के लिए अपने शिष्यों को जनक के यहाँ भेजते रहते थे। अस्तु, महापुरुषों के यहाँ मन का दान होता है। किन्तु मन का दान इतना ही आसान होता तो हर कोई तुरन्त कर देता। जनक ने भी आरम्भ में मन का दान ही तो किया था फिर भी वह लगे फाँसी देने। कहने को तो मन का समर्पण गुरु को उसी दिन किया जाता है जिस दिन शिष्य शरण ग्रहण करता है किन्तु पूर्ण समर्पण तो अभ्यास करते-करते ध्यान की स्थिति आ जाने पर ही होता है। जनक ने इस प्रकार का समर्पण किया और पा भी गये। सन्तों के उपदेश, शरण-सेवा-सान्निध्य से भजन जागृत हो गया। वह जागृति कैसे होती है?

शब्द विहंगम बाजे तूरा। कोटि भाँति जहँ भभके नूरा।

भजन की जागृति शब्द से होती है। जिस परमात्मा की हमें चाह है, हमारी पुकार ऐसी हो कि जिस सतह पर हम हैं, प्रभु उतरकर वहीं आ जायँ, हृदय से अपनी वाणी, शब्द देने लगे। विहंग पक्षी को कहते हैं। वह

आकाशचारी होता है। आकाश का शब्द जब उतरने लगे, यही है **'शब्द विहंगम'**! यह **'बाजे तूरा'**– तूर्य की तरह, राजा–महाराजाओं के यहाँ बजती रहनेवाली तुरही की तरह बहुत देर तक एक ही धुन से बजती रहती है। एक बार शब्द जागृत हो गया, उस परमात्मा की अपौरुषेय वाणी उतर चली, फिर वह अविरल बजती ही रहती है, जब तक पार नहीं हो जायँगे, दर्शन-स्पर्श और स्थिति नहीं पा लेंगे, तब तक यह बीच में विराम नहीं लेती। उस शब्द के निर्देशन में भगवान का स्वरूप झलकने लगता है– **'कोटि भाँति जहँ भभके नूरा'**– आपका स्वरूप तो बाद में मिलता है, उसके पहले करोड़ों विधियों से भगवान का, इष्ट का स्वरूप झलकने लगता है, प्रकट होने लगता है। ऐसी अवस्था में साधक को क्या करना चाहिए?–

बंकनाल सुधि करिहौ।

बंकनाल श्वास का नाम है। यह श्वास नासिका से मस्तिष्क में होते मेरुदण्ड से गुदाचक्र होकर नाभि और कण्ठ का स्पर्श करते नासिका से पुनः निकल जाती है–हठयोग में ऐसी मान्यता है। यह रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा है इसलिए श्वास को बंकनाल कहते हैं। अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को समेटकर सुध अर्थात् स्मृति के साथ श्वास में लगाओ। श्वास का ध्यान करो। नाम के अतिरिक्त अन्य संकल्प न आयें। पूज्य गुरुदेव कहते थे– जो श्वास का भजन नहीं जानते, ऐसे साधुओं को महापुरुष अपनी कुटिया में दो रोटी भी नहीं देते थे। उनका मानना था कि यह स्वयं तो पथभ्रष्ट है ही, घूम-घूमकर दूसरों को गुमराह ही तो करेगा। इसलिए श्वास के ऊपर सुरत लगाओ, केवल उसकी सुधि करो।

श्वास-प्रश्वास का यजन करते-करते इसकी परिपक्व अवस्था में एक ऐसा स्तर आता है कि **'सुखमन सेज विहंगम सीढ़ी'**– मन सुखपूर्वक स्वाँस में प्रवाहित हो जाता है। मन भजन में सुख मानने लगता है। एक बार सुध करो तो सुरत सुखपूर्वक एकदम शान्त, ओम्-ओम्-ओम्-ओम् की धुन प्रवाहित हो गयी। अब मन इधर-उधर भागता ही नहीं। सोया आदमी क्या भागेगा! इसी प्रकार मन सो जाता है, मन शय्या यानी सेज पा जाता है

लेकिन रास्ता वही '**विहंगम सीढ़ी**'– आकाश वाले शब्द का ही सहारा है। उसी के निर्देशन में समझ में आता है कि मन कितने प्रतिशत शान्त प्रवाहित हुआ। शान्त मन की यह बड़ी अच्छी अवस्था है, फिर भी '**माया गस्त करे चहुँ फेरी।**'– इस धोखे में मत रहना कि हमारी अवस्था बहुत अच्छी है। अभी चारों ओर से माया ने बहुत कड़ा पहरा लगा रखा है। वह छिद्रान्वेषण करने में लगी है। अभी आप माया के ही क्षेत्र में हैं, तनिक सी असावधानी से माया अभी कामयाब हो सकती है।

अरब में एक अच्छे महापुरुष हुए। दस वर्ष की आयु से ही वह साधु हो गये। वह नियम, संयम और ईश्वर-चिन्तन में ही निमग्न रहते थे। उनकी आधी उम्र तक तो लोगों ने उन्हें पागल समझा। शान्त जंगल-झाड़ियों में उनका निवास था। पुण्यात्माओं के हृदय में प्रेरणा द्वारा उनके खाने-पीने की व्यवस्था हो जाती थी। धीरे-धीरे उनकी आयु पचहत्तर वर्ष की हो गयी। अब उनके परीक्षा की घड़ी आयी।

झाड़ियों के समीप की पगडंडी से क्षेत्रीय वनवासी आया-जाया करते थे। एक दिन एक शहजादी जंगल में दृष्टिगोचर हुई। उसकी वेषभूषा, चाल-ढाल और बढ़िया सलोना स्वरूप बाबा ने देखा। ग्रामीण जंगली लोग उस मार्ग से आते ही जाते, इधर-उधर निकलते ही रहते थे। उन महात्मा ने जीवन में कभी उनसे बात ही नहीं किया; किन्तु इस सलोने स्वरूप को देखा तो उन्हें दया आ गयी। अरे! इस जंगल में यह अकेली! उन्होंने पूछ लिया– क्यों, तुम्हारे साथ कोई है? वह मुस्कराकर थोड़ा पीछे हट गयी।

महात्मा ने कहा– देख इधर घनघोर रेगिस्तान है, जंगल झाड़ी है, इधर भटक जायेगी तो कहीं पानी नहीं है। जंगली नरभक्षी जानवर भी यहाँ हैं। बताओ, तुम्हें जाना कहाँ है तो मैं रास्ता बता दूँ। किन्तु वह मुस्कराकर पीछे हटती गयी। बाबा खड़े हो गये। उन्होंने सोचा– यह जरूर धोखा खा जायेगी। यह रास्ता भटक गयी है, उद्दण्ड की तरह दौड़ रही है। लगता है शहर की है। वह आगे-आगे चलने लगी, पीछे-पीछे वह बाबाजी! वह थोड़ा दौड़ने लगी तो बाबा भी दौड़ पड़े। अब कहाँ वह कल की लड़की, फर-फर

उड़ रही थी; और कहाँ पचहत्तर वर्ष के महात्मा! वह हाँफते हुए खड़े हो गये, बोले– अब मरे चाहे जिये! यह जाने और इसका भाग्य। बाबा ज्योंही हताश होकर खड़े हुए, आकाशवाणी हुई– 'जो आजीवन बड़े वेग से जन्नत की ओर जा रहा था, आज वही उतने ही वेग से दोज़ख की ओर भागा जा रहा है। अरे, आज से चौथे दिन तुम्हें नबूवत (अवतार की स्थिति) मिलनेवाली थी, लेकिन तुम चूक गये।

उन महात्मा ने कुल्हाड़ी से अपना पाँव काट डाला। उन्होंने कहा– दोष इन पाँवों का है। जबकि पाँवों का कोई दोष ही नहीं था। पाँव को आदेश दिया था मन ने।

दया बिन सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई॥

वस्तुतः उन महात्मा के मन में हवा भर भी गलत विचार नहीं था, उन्होंने दयावश ऐसा किया था; किन्तु आकाशवाणी ने बताया– दोज़ख की ओर जा रहे हो। क्यों? आप आज की जानते हैं कि हमारे मन में कोई गन्दा विचार नहीं है; किन्तु साथ उठने-बैठने के पश्चात् क्या भाव प्रकट होगा, यह भगवान जानते हैं। अस्तु, अच्छे महात्माओं को भी सदा सतर्क रहना चाहिए। अंततः कबीर कहते हैं–

इस पद का जो अर्थ बिचारे, कह कबीर वे दास हमारे।

इस पद में बतायी हुई अवस्थाएँ अपने में जो विचार ले **'कह कबीर वे दास हमारे'**– कबीर कहते हैं– वे मेरा अनुगमन करनेवाले हैं, शिष्य हैं। मान लें, वह तो शिष्य हो गये और भी किसी को प्रवेश है या नहीं? इस पर कहते हैं– **'कोई नाम का व्यवहारी मिलिहो'**– सृष्टि में कोई भी हो, कोई नाम का प्रेमी मिल जाय, बस वह भी शिष्य है। **'तुम चलो दिवाने देस'**– केवल एक काम करना है कि परमात्मा के अंतरंग भक्त, विरही, दीवाने, मीरा और सुतीक्ष्ण-जैसी रहनीवाले जिस चाल से चले, जिस पथ से गुजरे, तुम भी उस पथ से गुजर चलो; अवश्य प्राप्त कर लोगे, दर्शन पा जाओगे और विलय भी प्राप्त कर लोगे।

इस रहनी-गहनी को कोई भी अपना सकता है, केवल–

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय॥

सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खुरपी चलाते, जीवन के हर मोड़ पर नाम याद आया करे। श्रद्धा और समर्पण के साथ नाम का स्मरण –यही है नाम का व्यवहार। सुबह-शाम जितना हो सके, उतना समय नियमित दिया करें। बच्चे समय दें, मातायें दें, युवक दें – सब दें। यह नियम खण्डित न हो।

भगवान के स्मरण के लिए यह नहीं सोचना चाहिए कि अभी हमने स्नान नहीं किया या मुख नहीं धोया। इसकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सुमिरन अन्तःकरण से होता है। चमड़ी धोने या न धोने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमारे गुरु महाराज साल-छः महीनों तक स्नान ही नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि नहाने-धोने में जो समय नष्ट होता है उसे हम भजन में क्यों न लगावें। अस्तु,

जीवन के हर मोड़ पर हर परिस्थिति में, समर्पण के साथ एक परमात्मा का जो बोध कराता है ऐसे एक नाम ओम् अथवा राम का जप करो। उस भजन की जागृति सद्गुरु से होती है। जब खूब जप करोगे तो भगवान गुरु भी ढूँढ़ कर दे देंगे। पहले तो समझ में ही नहीं आता है कि कौन गुरु है और कौन चेला? भगवान जब अनुग्रह करते हैं तभी समझ में आता है–

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेहीं। राम कृपा करि चितवा जेहीं॥

(मानस, 7/68/7)

और गुरु के मिलते ही **'सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'** *(मानस, 4/17)*– संशय और भ्रम का समूल नाश हो जाता है। फिर कभी सन्देह नहीं होगा कि रास्ता यह सही है या वह सही है! फिर यह ईश्वर-पथ दिग्दर्शन कराकर ही शान्त होता है।

॥ ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

पिवत नाम रस प्याला

पूज्य गुरु महाराज का यह अत्यन्त प्रिय भजन था। सती अनुसुइया आश्रम, चित्रकूट धाम, उत्तर प्रदेश, भारत! वनप्रान्त वन्य पशुओं से भरे-पूरे जंगल में आपका निवास था। दो-चार साधकों के मध्य आप प्रायः इस भजन की साधनापरक पंक्तियों पर बल दिया करते थे। इसे धीरे-धीरे गुनगुनाया करते कि '**पिवत नाम रस प्याला, मन मोर हुआ मतवाला।**' भगवत्पथ में मन लगाने के चार प्रमुख आश्रय हैं– नाम, रूप, लीला और धाम। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इनका क्रम-निरूपण इस प्रकार किया है–

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें।।

(मानस, 1/20/4-5)

प्रायः लोग कहते हैं कि ध्यान में मन नहीं लगता। शुरू-शुरू में ध्यान में मन लगेगा भी नहीं; क्योंकि ध्यान के लिए आपके पास अभी वह योग्यता नहीं है। ध्यान के लिए पहले नाम-जप और नाम से वह स्वरूप आपके हृदय में प्रकट होगा तब ध्यान की योग्यता आ जाती है। जब स्वरूप पकड़ में आ गया तो लीला का क्रम आता है। लीला का आशय है कि भगवान अपनी पहचान देना शुरू कर देंगे। शनैः-शनैः वह आप में दृष्टि बनकर प्रसारित होंगे और सामने तो स्वयं हैं ही। भगवान कैसे भजन कराते हैं, उठाते-बैठाते साधना-पथ में अग्रसर कराते हैं– भगवान के इस प्रसारण का नाम लीला है और उनके द्वारा प्रसारित लीला देखते-देखते लीलाधारी का स्पर्श कर लिया, तहाँ धाम अर्थात् स्थिति। धाम का आशय है स्थिति।

इन चारों आश्रयों में सबसे प्रमुख और आरम्भिक साधना का चरण है नाम। स्तरभेद से नाम में बड़ा अन्तर है–

राम नाम में अन्तर है। कहीं हीरा है कहीं पत्थर है।

किसी ने चौबीस घण्टे श्रम किया और कंकड़ हाथ लगा, किसी ने उतना ही श्रम किया और हीरा हाथ लग गया। एक ही नगीने से घर-द्वार, सवारी-साधन, इज्जत-प्रतिष्ठा– सब कुछ व्यवस्थित हो गया। आरम्भ में इस नाम को जपते हैं, मन ही नहीं लगता–

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनवाँ तो चहुँ दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं॥

माला हाथ में घूम रही है, जीभ मुँह में चल रही है, राम-राम कह रही है लेकिन जिस मन को जपना चाहिए वह तो चारों तरफ भटक रहा है। '**यह तो सुमिरन नाहीं**'– यह सुमिरन की सही स्थिति नहीं है। लेकिन अभ्यास तो यहीं से होता है। गोस्वामी जी प्रोत्साहित करते हैं–

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, 1/27/1)

भाव से, कुभाव से, क्रोध अथवा आलस्य से कैसे भी नाम का उच्चारण करें, रावण की तरह क्रोध से या कुंभकर्ण की तरह आलस्य से, जिस किसी भी प्रकार से '**नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।**'; क्योंकि नाम का टेढ़ा-मेढ़ा स्वल्प अभ्यास भी आपको नाम की वास्तविक धारा में प्रवेश दिला देगा। नाम-जप में अन्तर है तो क्या; कुछ न सही, तब भी कंकड़ तो हाथ लगेगा। ऐसा नहीं कि कुछ मिला ही नहीं, कुछ तो मिला। यही कंकड़ एक दिन हीरा की आभा (क्वालिटी) पा जायेगा और जब नाम पकड़ में आ गया तो नाम के जागृत होते ही हृदय में वह स्वरूप प्रकट हो जायेगा तो ध्यान धरते बन जायेगा। भगवान उठाने-बैठाने और योगक्षेम करने लग जाते हैं तब,

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, 5/33/3)

भजन छोड़कर उसको कुछ अच्छा लगता ही नहीं। सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वह देखे या सुने; क्योंकि उससे भी सूक्ष्म और बड़ी वस्तु वह

हृदय में पा गया। इसी स्तर का सन्त कबीर का यह भजन है। कबीर का चिन्तन इसी स्तर से गुजर रहा था, नाम में मस्ती मिल रही थी। भजन इस प्रकार है–

पिवत नाम रस प्याला, मन मोर भयो मतवाला।

बिन कर चले जपे बिन जिह्वा, ऐसी अजपा माला।
हरदम दम दम तार न टूटे, पिवत बंक करि नाला।।
मन मोर भयो.....।।

नाम रसायन जोइ पियो है, सोइ भयो मतवाला।
पंडित ज्ञानी पिवै न जानें, झूठ बजावत गाला।।
मन मोर भयो.....।।

त्रिकुटी मध्ये ध्यान लगावे, लिये शब्द कर भाला।
छूट जात जम का डर तबहीं, निकट न आवत काला।।
मन मोर भयो.....।।

गैब नगर में डंका बाजे, सदगुरु भयो दयाला।
किरपा दास मगन होइ बैठे, खुलि गये अनुभव ताला।।
मन मोर भयो.....।।

सन्त कबीर कहते हैं कि नामरस का प्याला ज्यों-ज्यों पीता हूँ, मेरा मन मदमस्त होता जा रहा है। सामान्यतः मन बड़ा चंचल है। वह एक दिशा में कभी रुकता ही नहीं; किन्तु नाम के अभ्यास से अब वह एकदम मतवाला होता जा रहा है। जड़ी-बूटी सूँघने पर सर्प जैसे केंचुआ-जैसा शिथिल होकर गिर पड़ता है, आज हमारे मन की वही दशा है। उसे नाम की खुमारी चढ़ गयी है जैसे मंसूर को चढ़ी थी, नानक को चढ़ी थी– **नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।**

नाम तो सभी जपते हैं किन्तु सबमें ऐसी मस्ती दिखायी तो नहीं देती। आपने कैसे जपा जो मस्ती छा गयी?

बिन कर चले जपे बिन जिह्वा, ऐसी अजपा माला।

अधिकांश लोग माला के सहारे जप करते हैं। एक सौ आठ दानों की माला को अँगूठे और अनामिका की सहायता से घुमाते हैं और सुमेरु से लौटकर पुनः सुमेरु तक आते हैं। किसी ने गुरु महाराजजी से पूछा, 'महाराज! जपने में सुमेरु पार क्यों नहीं करते?' महाराज जी ने समझाया– जपने के विधि-विधान मात्र इतने के लिए हैं कि जप में सचेतावस्था बनी रहे। फिर महाराज जी विनोद में कहते थे– सुमेरु पार करोगे तो जप की गिनती भूल जाओगे। इसलिए एक ओर से जपते-जपते गये, पुनः लौटकर दूसरी ओर से गये, सुमेरु पर जमा कर दिया। इतना राम-नाम हो गया कि सुमेरु पहाड़ जितना हो गया। इसलिए बीचवाले बड़े दाने का नाम सुमेरु है।

माला के सहारे जप करना सुविधाजनक है। जिस तरह शिशु कक्षा के बच्चों को गिनती सिखाने के लिए गोलियों से गूँथा हुआ स्लेट दिया जाता है, बच्चे एक-एक गोली खिसकाकर गणना सीख लेते हैं; लेकिन वही बच्चे जब बड़े हो जाते हैं तो गोलियों से गिनती नहीं करते। अंक उनके मस्तिष्क में ढल जाते हैं। जैसे उनसे काम लेना चाहिए, वे मौखिक भी प्रयोग करने लगते हैं। इसी प्रकार मन बड़ा चंचल है। इसे अभ्यास कराने के लिए माला से जप किया जाता है, जिह्वा भी जप में सहयोगी है। किन्तु दोनों ही माध्यमों में मन भागता ही रहता है, जैसा अभी कहा गया– '**माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।**'– जुबान राम-राम कहती रहेगी, हाथ से माला के दाने खिसकते रहेंगे और मन भागता रहेगा; किन्तु इससे उन्नत स्तर पर '**बिन कर चले**'– बिना माला के जप चलता रहता है, '**जपे बिन जिह्वा**'– जुबान से उच्चारण नहीं हो रहा है फिर भी जप चल रहा है। यह अजपा माला है। यह कैसे जपी जाती है?

हरदम दम दम तार न टूटे, पिवत बंक करि नाला।

बंकनाल श्वास को कहते हैं। यह नासिका से आई मस्तिष्क में गयी, जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं, उसके पिछले भाग को मूर्धा कहते हैं। उसका स्पर्श

करते हुए यह श्वास रीढ़ की हड्डी अर्थात् मेरुदण्ड से होते हुए नाभिकमल में पहुँच जाती है, फिर वहाँ से लौटकर उसी मार्ग से पुनः नासिका से बाहर हो जाती है। श्वास तो पाँव के तलवों और हाथ की हथेलियों में है। जहाँ वायु नहीं, स्पन्दन नहीं, वह अंग निष्क्रिय हो जायेगा। प्रश्नोपनिषद् में इसकी विशद चर्चा है। वायु सर्वत्र है; किन्तु शरीर में इसके आने-जाने का मुख्य मार्ग है नासिका से ब्रह्माण्ड, मेरुदण्ड, नाभिकमल और लौटकर उसी रास्ते से बाहर।

अजपा श्रेणीवाले जप का उतार-चढ़ाव श्वास पर है। आप पहले शान्त बैठ जायँ। देखें, श्वास कब अन्दर गयी, कब लौटकर आयी। मन को द्रष्टा के रूप में खड़ा कर दें। इस श्वास को देखा भर करें कि यह कब आयी और कब लौटकर गयी। दो-चार बार जब देखने की क्षमता आ जाय तब धीरे से उसमें चिंतन से नाम ढाल दें। श्वास अन्दर गयी तो ओम्, बाहर आयी तो ओम्। यदि आप राम जपते हैं, श्वास गयी तो 'रा', बाहर आयी तो 'म'। कुछ दिन सचेत होकर इसे जपना पड़ेगा। इस प्रकार श्वास को देखने की क्षमतावाले जप का नाम है पश्यन्ती श्रेणी का जप! आज आप श्वास में सुरत को लगाते हैं तो सुरत कभी-कभी खण्डित हो जाती है, मन इधर-उधर चला जाता है; किन्तु क्रमशः एक समय ऐसा आता है कि एक बार सुरत लगाया तो **'रिनक धिनक धुन अपने से उठे'**– एक धुन प्रसारित हो गयी। श्वास तैल-धारावत् एक दिशा में प्रवाहित हो गयी। ओम्-ओम्-ओम् यह स्वाँस में सहज प्रवाहित हो गयी, मन शान्त सम होकर उसे देखा भर करे। जहाँ यह मन श्वास में धारावाहिक हो जाता है उसका नाम है अजपा। यह अजपा माला चलती ही रहती है– **'बिन कर चले जपे बिन जिह्वा, ऐसी अजपा माला।'** इसे सुबह-शाम जपें– ऐसी बात नहीं है। **'हरदम दम दम तार न टूटै'**– यह हर पल, दम दम माने पल-पल जपते रहें–

स्वाँस स्वाँस पर राम कहु, वृथा स्वाँस मत खोय।
ना जाने यहि स्वाँस का, आवन होय न होय॥

न जाने अगली स्वाँस आयेगी या नहीं! अतः एक भी स्वाँस व्यर्थ न चली जाय। यह अजपा माला बंकनाल अर्थात् श्वास से जपी जाती है। जहाँ अजपा जागृत हो गयी फिर तो नाम जपने का नशा हो जाता है। मन करता है रात-दिन इसे नशे जैसा पीते ही रहो, किसी दूसरी ओर ताकने का मन नहीं करता, बात करने का मन नहीं करता। सन्त कबीर कहते हैं कि इसे पीकर मेरा मन उन्मत्त हो गया है। हम ही पीते हैं, ऐसी बात नहीं है। यह सबके लिए सुलभ है।

नाम रसायन जोइ पिया है, सोइ भयो मतवाला।

यह रसायन है। कायाकल्प कर देने की क्षमता है इसमें। जिसने भी इसका सेवन किया, वही मतवाला हो गया अर्थात् इसका दरवाजा सबके लिए खुला है; किन्तु–

पंडित ज्ञानी पिबे न जाने झूठ बजावत गाला।

जो पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण करनेवाले हैं कि विष्णुजी क्षीरसागर में रहते हैं, लक्ष्मीजी हमेशा श्रद्धा से सेवा करती हैं, ब्रह्म आकाश में रहता है, वह मैं हूँ, एकरस आत्मा हूँ– ये पीना नहीं जानते। व्यर्थ ही प्रलोभन देते रहते हैं; क्योंकि श्वास का जप किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष से ही संभव होता है, सीधा कहने से समझ में नहीं आता। महापुरुष के उपदेश के अनुसार आप आरम्भ करें। जब श्रद्धा से डोरी लग जायेगी तो वह जो वाणी से कहते हैं, हृदय से पढ़ाने लगेंगे। तब समझ में आ जायगा कि कितना मैं श्वास में लग पाता हूँ और कितना नहीं! अगली पंक्ति में बताते हैं–

त्रिकुटी मध्ये ध्यान लगावे, लिये शब्द कर भाला।

त्रिकुटी के मध्य में ध्यान लगाने का विधान है। जब श्वास को देखें तो सुरत अर्थात् मन की दृष्टि त्रिकुटी में हो, लेकिन साथ-साथ भगवान चाहते क्या हैं? वह जो वाणी देते हैं, वह अपौरुषेय वाणी कहती क्या है? उसका भाला लेकर चिन्तन में डटो अर्थात् वह जैसा कहें, उसके अनुसार चलो,

अपनी बुद्धि से नहीं। ऐसा नहीं कि दो घण्टे बैठ गये तो भजन हो गया। भगवान जितना स्वीकृति दें, उतना भजन है, अन्यथा नहीं है। शब्द अर्थात् परमात्मा की अपौरुषेय वाणी उतरे, वह हमारी सार-सम्हाल करे, उसके निर्देशन को समझकर उसके अनुसार विकारों को काटते हुए आगे बढ़ें, श्वास में लगें, ध्यान त्रिकुटी में लगायें।

एक त्रिकुटी तो भौंह के मध्य के स्थान का नाम है। दूसरी त्रिकुटी तब है जब सत्-रज-तम तीनों गुण कूटस्थ हो जायँ। मन में न सात्त्विक उद्वेग उत्पन्न हो, न राजसी और न तामसी। तीनों गुणों से उपराम होकर मन को केवल श्वास में लगायें। यह कब कितना लगा, इसके लिए '**लिए शब्द कर भाला**'–ईश्वरीय शब्द जो अविरल प्रवाहित रहता है, उसे समझें, उसके सहारे लगें। निर्देशन के अनुसार श्वास में लगने से–

छूटि जात जम का डर तबहीं, निकट न आवत काला।।
मन मोर भयो.....।।

तुरन्त यमराज का भय समाप्त! काल करीब आयेगा नहीं– '**काल न खाय कलप नहिं ब्यापै, देह जरा नहीं छीजे।**' लेकिन यह श्वास का भजन भगवान के आदेश के अनुसार ही चलता है। वह क्या शब्द देते हैं, उसे समझो। कभी भगवान कहेंगे कि अब श्वास से तुम्हारा मन भागना चाहता है तो तुरन्त सजग होकर, घसीटकर श्वास में लगाओ। कभी-कभी भगवान समर्थन देंगे कि अब श्वास बिल्कुल ठीक है। इस प्रकार अपौरुषेय वाणी का अवतरित होना शब्द कहलाता है। उसका शस्त्र लेकर लगो तभी भजन होगा क्योंकि '**(मन) बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।**' *(विनयपत्रिका, पद 89)* यह अयुक्त मन तभी वश में होता है जब प्रेरक के रूप में स्वयं प्रभु उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ और आपका मार्गदर्शन, रोकथाम करने लगें। जब काल का भय नहीं रह गया तब अन्तिम स्थिति क्या है? वह स्थिति मिलती कब और कहाँ?

गैब नगर में डंका बाजे, सदगुरु भये दयाला।

गैब माने अप्रत्यक्ष आकाश, अन्तर्देश। गो नाम मनसहित इन्द्रियाँ। इसके अन्तराल में नगरों का एक जाल बिछा है। कहने के लिए दस इन्द्रियाँ और एक मन हैं लेकिन इसका पट-पसार इतना लम्बा जितना विधाता की सृष्टि–

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥

(विनयपत्रिका, पद 124)

जैसे बहुमूल्य मणि में असन माने भोजन, बसन माने वस्त्र, धन-धाम, इज्जत-प्रतिष्ठा सब विद्यमान हैं, ठीक उसी प्रकार मन के अन्तराल में स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक सब विद्यमान हैं। मन में कभी स्वर्ग का डंका बजता है, कभी नरक का, तो कभी अनन्त योनियों में भ्रमण का; किन्तु जब त्रिकुटी के ध्यान में सुरत स्थित हो गयी, अपौरुषेय वाणी शब्द का शस्त्र लेकर साधक चला तो यम का भय तुरन्त समाप्त हो गया और इन्हीं इन्द्रियों, मन के अन्तराल में जहाँ स्वर्ग-नरक के डंके बज रहे थे, अब उसी गैब नगर में भगवान के डंके बजने लगे। किन्तु यह साधना उन्हीं के पास होती है जिन पर **'सद्गुरु भये दयाला'**; क्योंकि सद्गुरु की कृपा के बिना साधना पूर्ण होती ही नहीं। इस कृपा के साथ ही,

किरपा दास मगन होइ बैठे, खुलि गये अनुभव ताला।
मन मोर भयो.....॥

जब दास पर कृपा हो गयी तो वह तोष पा जाता है। तोष के लिए उसके पास होता है अनुभव। अनु कहते हैं अतीत को और भव माने संसार। संसार से अतीत करा देनेवाली विशेष जागृति जिसका नाम है अनुभव, उसकी ताली, कुञ्जी खुल गयी। निवृत्ति देकर अनुभव भी शान्त हो जाता है। **'नहिं तहँ पुनि विज्ञान बिहाना।'**– आगे शेष कोई सत्ता बची ही नहीं, फिर क्या समझाएँ। साधक भी विलग नहीं रहा, किसे समझायें? तभी सम्भव है जब **'सदगुरु भये दयाला'**–जब सद्गुरु की कृपा हो।

परमहंस आश्रम अनुसुइया में कभी-कभी ख्यातिलब्ध विद्वान्, विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर, प्रोफेसर पहुँच जाते थे। साथ आनेवाले उनका परिचय देते– महाराज! आप दर्शनशास्त्र के विशेषज्ञ हैं। कबीर पर आपका अधिकार है। महाराजजी उनसे कहते थे– हो! जंगल में हमलोग कहाँ सुनने को पायें। अच्छा हुआ आ गया। कुछ मोहूँ के सुनाओ। वे लोग जो जानते थे, कुछ उल्टा-सीधा आरम्भ करते; किन्तु थोड़ी देर में ही कह उठते– महाराजजी! हमलोग आपसे कुछ सुनने आये हैं। संसारभर का दर्शनशास्त्र हमलोगों ने पलट दिया लेकिन साधन-भजन समझ में नहीं आता। महाराजजी उन्हें कहते थे– हो! ठीक कहत हो। सब बात सब कोउ जानत है। लोग पढ़त हैं, लिखतौ जात हैं। न जाने का लिखत हैं? लेकिन साधन-भजन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती। यह तो किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अनुरागी अधिकारी के हृदय में जाग जाया करती है। ऐसा नहीं कि किसी को गुरु बना लिया तो भजन जग जायेगा। केवल अनुभवी सद्गुरु के द्वारा भजन की जागृति संभव है। वह न तो लिखने में आती है और न वाणी से कहने में।

इस पर वह कहते– महाराजजी! आपकी कृपा बनी रहे। महाराजजी कहते– जाओ, दो–ढाई अक्षर के किसी नाम ओम् अथवा राम का जप करते रहो। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते नाम याद आया करे। इसके लिए सुबह-शाम बीस मिनट समय अवश्य दिया करो। यह नियम खण्डित न हो और साँझौ-बिहान पाँच मिनट मोर रूपवौ देखा करो। दो मिनट भी यदि तुम मेरा स्वरूप हृदय में पकड़ लोगे तो जिसका नाम भजन है, मैं तुम्हें यहाँ बैठे-बैठे दे दूँगा और तुम घर बैठे पा भी जाओगे। भक्ति सद्गुरु की देन है।

पूज्य गुरुदेव भगवान की शरण में अनुसुइया आश्रम में महाराजजी द्वारा निर्दिष्ट साधन और टूटी-फूटी सेवा करते लगभग साढ़े तीन महीने में ही एड़ी से चोटी तक मेरा पूरा शरीर एक-एक इञ्च पर फड़कने लगा। उसी के अनुरूप दृश्य भी दिखाई देने लगे। हमें चिन्ता हुई कि कोई बीमारी हो गयी। हमने महाराजजी से कहा कि ''मेरा पूरा शरीर एड़ी से चोटी तक तड़–तड़ फड़क रहा है, कुछ दृश्य भी दिखाई पड़ रहे हैं। हमें कोई बीमारी तो नहीं

हो गयी?'' इस पर महाराजजी हँसे, बहुत प्रसन्न हुए और कहा– ''बस बेटा! राम-रावण युद्ध शुरू हो गया। जब रावण मारा जाई, राम का राज्याभिषेक होई तबै ई बन्द होई। बेटा, भजन जागृत हो गया। इष्टदेव आज से रथी हो गये।'' अस्तु, किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही अनुभव जागृत होता है, सीधा कोई तरीका नहीं है।

जब भगवान साधक को अपना लेते हैं, वह सो सकता है लेकिन तब भी भगवान उसे देखते रहते हैं, वह नहीं सोते। जब तक साधक जाग्रत है तो उसके श्वास-श्वास पर, संकल्प-विकल्प पर भगवान का शिकंजा इतना कड़ा हो जाता है कि एक विपरीत संकल्प हुआ तुरन्त जैसे डण्डे की मार पड़े– इतनी कड़ी ताड़ना मिलने लगती है। साधक तो एक नाथा हुआ बैल है। बैल क्या जाने, हल कैसे जोता जाता है। हल तो हलवाहा जोतता है। यद्यपि भार बैल के ही कन्धे पर है फिर भी जितना खेत जोत उठता है, हलवाहे की देन है जो पीछे लगा रहकर उसका दिशा निर्देशन करता रहता है। ठीक इसी प्रकार साधक क्या जाने कि भजन कैसे होता है? भजन तो भगवान कराते हैं और जिस माध्यम से कराते हैं, वह है शब्द! वह जब कृपा करते हैं, साधक के हृदय से रथी हो जाते हैं तो आकाश से बोलते हैं, शून्य से बोलते हैं, पशु-पक्षी-वृक्ष से, सर्वत्र से बोल सकते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र हैं।

यदि यह शब्द हृदय में जागृत नहीं है तो निवृत्ति दिला देनेवाला, नशा प्रदान करनेवाला भजन अभी नहीं है। यदि वह नशा चाहिए तो सनेह से एक नाम को पकड़ो, उसका खूब जप करो। एक परमात्मा को पकड़ लो; क्योंकि भगवान एक से सवा कभी हुआ ही नहीं। ये तमाम देवी-देवताओं की उपासना साधना और श्रद्धा जगाने का पूर्वजों का आरम्भिक तरीका मात्र था। श्रद्धा जग गयी तो समर्पण एक परमात्मा के प्रति हो जाना चाहिए। दृढ़ संकल्प होकर उन एक के प्रति समर्पित होकर लग जाओ। उनसे प्रार्थना करो कि प्रभो! हम आपके हैं, हानि-लाभ आप जानें। सद्गृहस्थी का जो कार्यभार हमें मिला है, हम निर्वाह कर रहे हैं। यह फुलवारी आपकी है, यह घरबार आपका ही है और फिर चलते-फिरते नाम में लगे रहो। श्रद्धा से, समर्पण के

साथ लगे भर रहो। थोड़े ही समय में मल-आवरण-विक्षेप जो आपके हृदय पर आच्छादित है, माया का वह परदा हलका हो जायेगा। जहाँ यह आवरण हलका हुआ, भगवान बताने लगेंगे कि तुम्हारे गुरु महाराज कहाँ बैठे हैं। वे जिस सिंहासन पर होंगे या जिस दलदल में लोटते होंगे, आपको मिल जायेंगे और आपको उन पर विश्वास भी हो जायेगा और जब सद्गुरु मिल ही गये तो **'सदगुर मिलें जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।'** *(मानस, 4/17)*– सारा सन्देह दूर हो जायेगा। जो अपौरुषेय वाणी आज कहानी बनकर रह गयी है, वह हृदय में प्रत्यक्ष होने लगेगी। लेकिन नशा प्रदान कर देनेवाली साधना तभी जागृत होगी जब **'सतगुरु भये दयाला।'**

एक बार देवताओं ने शनिदेव से कहा– कहिये शनि महाराज! आपमें कितनी शक्ति है? शनि बोले– सृष्टि में ऐसा कोई प्राणधारी नहीं है जिसे मैं प्रभावित न कर दूँ। देवता बोले– हनुमान को जरा प्रभावित कर देखो। शनिश्चर घबड़ाया लेकिन डींगे बहुत हाँक चुका था, इसलिए हनुमानजी के शरीर में प्रविष्ट हो गया। हनुमान ने जामवन्त से कहा– जामवन्त जी! दो दिन से शरीर बहुत भारी है। थोड़ी ही देर में नाम जपने से भी उच्चाटन होने लगता है, बात क्या है? जामवन्त जी ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने गणना कर कहा– हनुमानजी! आपके ऊपर तो शनिश्चर चढ़ा है। हनुमान बोले– वही शनिश्चर जिसे लंका में रावण ने बाँधकर उलट दिया था; जो उसके ऊपर पाँव रखकर ही कहीं आता-जाता था; जिसे हमने सीधा करके मुक्त किया था? जामवन्त ने कहा– हाँ, हाँ, वही! हनुमान ने कहा– तब तो वह बड़ा कृतघ्न निकला। अच्छा, कहाँ है वह? जामवन्त ने कहा– आपके सम्पूर्ण शरीर में, शिर के ऊपर भी!

हनुमान ने कहा– धन्यवाद जामवन्त जी! अब हम शनिश्चर का स्वागत करते हैं। उन्होंने उठा लिया एक भारी-भरकम पहाड़ और अपने शिर पर रख लिया। एक पर्वत पूँछ में लपेटकर लटका लिया। कुछ देर तक तो शनिश्चर ने सहन किया। आधे घण्टे में वह लगा चिल्लाने– बचाओ, बचाओ! हनुमान बोले– भाई! मैं किसे बचाऊँ? तुम हो कौन? सामने

आओ। शनिदेव ने कहा– पहले पहाड़ तो फेंको। यदि इसी प्रकार बीस मिनट और रह गये तो हमारा कण्ठ भी बन्द हो जायेगा। हम पुकार भी नहीं पायेंगे। हनुमानजी ने पहाड़ फेंका तो शनिश्चर भी शरीर से निकलकर किनारे खड़ा हो गया। चरणों में गिरते हुए उन्होंने कहा– भगवन्! क्षमा करें। देवताओं ने चिट्ठा-पट्ठी देकर हमें आपके पास भेज दिया था। हनुमान ने कहा– देखो आज से भगवान के भक्तों के पास कभी मत जाना। अतः,

हरि भक्तन के पास न आवे भूत प्रेत पाषंड।

शनिश्चर, न देवी न देवता, जादू न टोना, मंत्र न तंत्र; हरिभक्तों के पास यह आ ही नहीं सकता। हनुमान ने कहा– दूसरों को भी लगना तो केवल उन्हें दृष्टि से प्रभावित करना, किसी के शरीर में मत घुसना। तब से शनि ग्रह हो चाहे मंगल, राहु हो चाहे केतु, जादू हो चाहे टोना, भूत हो चाहे प्रेत; आप समर्पण के साथ एक प्रभु का नाम जपना आरम्भ कर दें। जहाँ भगवान की भक्ति रहती है वहाँ धूत-पोंगड़ा, यह मायिक षड्यन्त्र नहीं चल पाते, सब शान्त हो जाते हैं–

जोग लगन ग्रह बार तिथि तुलसी गनत न काहि।
राम दाहिने जाहिं जब सकल दाहिने ताहिं॥

समाज में प्रचलित है कि यात्रा या शुभ कार्य करने के लिए योग, लग्न, ग्रह, वार और तिथि– इन पंचाङ्गों का विचार किया जाता है कि तिथि अनुकूल है या नहीं। तुलसीदास कहते हैं– इनकी कोई जरूरत नहीं है। यदि भगवान अनुकूल हैं तो दलदल में चलने पर भी पाँव फूलों पर पड़ेंगे– **'चलत कुमग पग परत न खाले'**– कुमार्ग में चल दोगे तब भी तुम्हारा पाँव गड्ढे में नहीं पड़ेगा। केवल भगवान अनुकूल होने चाहिए।

भगवान की अनुकूलता का एक ही लक्षण है कि प्रभु शब्द (वाणी) प्रदान करने लगे। उनकी अनुकूलता का प्राथमिक साधन है नाम-जप! वैदिक ऋषियों ने जप के लिए ओम् शब्द को चुना, जैसा कि आदिशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान का निर्देश है। कालान्तर में जितने मत-मतान्तर

फैले, उन सबने अपनी पहचान के लिए नये-नये मंत्र बनाये; किन्तु आरम्भ में ओम् से ही उच्चारण किया। किसी ने कहा 'ॐ नमः शिवाय' तो किसी ने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'। कहीं 'ॐ ह्री क्लीं चामुण्डायै विच्चे...' तो कहीं 'ॐ भूभुर्व स्वः...'; किन्तु मध्यकालीन भारत में गीताशास्त्र रखने, पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा तो ओम् उच्चारण के अधिकार-अनधिकार का विवाद देख भक्तिकालीन सन्तों ने, कबीर, नानक, तुलसी इत्यादि ने ओम् के स्थान पर राम नाम जपने का निर्देश दिया। प्राचीन संस्कृत भाषा का स्थान हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं ने ले लिया था इसलिए इन महापुरुषों ने ओम् के ही पर्याय के रूप में राम शब्द पर बल दिया। राम का आशय है– जो सबके भीतर रमण करता हो। ओम् में ओ का आशय है वह अविनाशी परमात्मा, अहं माने आप स्वयं, अर्थात् वह परमात्मा जिसका निवास आपके हृदय में है। दोनों का अर्थ एक ही है। इसलिए महापुरुषों ने संस्कृत भाषा के शब्द ओम् का अनुवाद राम कर दिया, न कि राम कुछ और है।

वास्तविकता तो यह है कि भगवान अनिर्वचनीय हैं। उनका तो कोई नाम ही नहीं है। वह सम्पूर्ण विभूतियों से युक्त हैं अतः विभु; सबका भरण-पोषण करते हैं इसलिए प्रभु; अन्तःकरण के अंतराल में है इसलिए आत्मा; सबमें रहते हुए सबसे परे हैं इसलिए परमात्मा....! अब आप गणना करते ही चले जायँ। कभी इस योग्यता का नाम तो कभी उस विभूति का नाम। भगवान का कोई एक सम्पूर्ण नाम तो है ही नहीं; प्रभु का परिचायक कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम जप सकते हैं, फिर वही नाम स्वाँस से जपना पड़ेगा। यदि श्रद्धा में आपका लक्ष्य प्रभु हैं तो जपते रहें, प्रभु सम्हाल लेंगे।

॥ ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

सन्तो! यह मुरदों का गाँव

संसार में बच्चों का जन्मदिन मनाने का प्रचलन पाया जाता है। प्रतिवर्ष उनका जन्मोत्सव भी मनाने की परम्परा है। इतना ही नहीं, कोई साठ-सत्तर वर्ष के हो गये तब भी बर्थ-डे! ब्लड प्रेशर हाई है, हार्ट अटैक हो गया है, आई.सी.यू. में पड़े हैं तब भी जन्मदिन! महापुरुषों ने इन जन्मोत्सवों को बहुत महत्व नहीं दिया। आदि शंकराचार्य जी की 'प्रश्नोत्तरी' में है–

जातो हि को यस्य पुनर्नजन्म, को वा मृतो यस्य पुनर्नमृत्युः॥18॥

अर्थात् जन्म वही सराहनीय है जिसका पुनर्जन्म न हो। शरीर एक वस्त्र है। वस्त्र में जीवन तो होता नहीं, कैसी मृत्यु? वस्तुतः अन्तिम संस्कार का मिट जाना ही ऐसी मृत्यु है जिसका पुनर्जन्म या पुनर्मृत्यु नहीं है। ऐसा तब होता है जब द्रष्टा यह जीवात्मा अपने ही सहज स्वरूप परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और उसमें स्थिति प्राप्त कर ले। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥2/22॥

अर्जुन! जैसे पुराने, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को फेंककर मनुष्य नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी आत्मा शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर नवीन शरीररूपी वस्त्र धारण कर लेता है। शरीर एक वस्त्र है। मान लें, किसी के ऊपर आक्रमण हो गया; आपने उसका कुर्ता-धोती या कोट-पैण्ट-टाई बचाकर रख लिया तो क्या उसके प्राणों की रक्षा हो गयी? कभी नहीं। ठीक इसी प्रकार शरीर भी आत्मा का एक वस्त्र ही है। इसकी सुरक्षा, इस वस्त्र का जन्मदिन मनाना, जो है नहीं, जिसे कल फट ही जाना है, फेंक ही देना है, प्रतिवर्ष इसका जन्मोत्सव अज्ञान नहीं तो क्या है?

इसीलिए पूर्वजों ने जीवनभर में मात्र दस-पन्द्रह अवसरों का चयन किया; जैसे–जातकर्म या जन्मना संस्कार! बच्चों के जन्म पर पुरोहित आकर सत्य क्या है, नित्य क्या है?; सः माने वह परमात्मा, सः अंश आकार– उसका आंशिक आकार नवजात शिशु के ऊपर छोड़ देता है। इस प्रकार से उच्चारण करता है कि वहाँ जो भी बैठे हैं, सबमें उन प्रभु का संस्कार दे देता है। इसके पश्चात् नामकरण संस्कार में भी वही मंत्र कि परमात्मा एक है, उसके तेज के अंशमात्र से सृष्टि का सृजन, पालन और परिवर्तन होता है, उसकी शरण जाओ।– एक संस्कार दे देता है। जब अन्नप्राशन का समय आता है तो पुर का हित चाहनेवाला पुरोहित पुनः वही संस्कार दुहरा देता है–

ॐ सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो सर्वतस्पृत्वातिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा अनन्त हाथ, पैर, मुखवाला है। वही सर्वत्र व्याप्त है। पूर्व महर्षियों ने मानस-यज्ञ के द्वारा उसी प्रभु को प्राप्त किया। विधाता ने जिसका ध्यान धरा, इन्द्र ने जिसकी स्तुति की, सिवाय उस प्रभु के अन्य किसी का कोई अस्तित्व नहीं है; उसकी शरण जाओ। इसके साथ ही एक व्यवस्था दी गयी कि अब वस्त्र दान करो, अन्न दान करो। इससे पुरोहितों की परवरिश हो जाती है और दाता का भी कल्याण होता है– **'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।'** *(मानस, 7/103ख)*

दान कल्याण करता है। दान में अपनी वस्तु का मोह छोड़ देना होता है, उसे त्याग देते हैं। किन्हीं अंशों में हमने संसार को छोड़ा है, भले ही मुट्ठीभर संसार को त्यागा है हमने! दान परमात्मा की ओर है। धीरे-धीरे पुण्य की वृद्धि होती है तो वह सर्वस्व को त्याग देता है। यहाँ तक कि–

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजन कृपा करिहहिं रघुराई॥

(मानस, 1/199/6)

त्याग करनेवाला मन का अर्पण कर देता है, तन का अर्पण कर देता है, सर्वस्व अर्पण कर देता है और बदले में उस प्रेमास्पद प्रभु को प्रसन्न देखना

चाहता है। इससे यह भी अभ्यास कराया जाता है कि खाना खाते समय, वस्त्र पहनते समय, पानी पीते समय, सोते समय, जागते समय उस प्रभु का नाम स्मृति-पटल पर सदैव बना रहे; परमात्मा की विभूति का स्मरण, नाम हृदय में बना रहे। नहाते-धोते, चलते-फिरते परमात्मा की एक-न-एक विभूति का स्मरण बना रहे। कर्मकाण्ड के अवसरों पर पढ़े जानेवाले श्लोकों में मात्र इतना ही है। इस दुर्लभ मानव-तन की सार्थकता के लिए पूर्वजों ने बाल्यकाल से ही उत्तम संस्कारों की व्यवस्था दी है। वह जो अविनाशी तत्त्व है, उन्होंने उसकी प्राप्ति पर बल दिया; नश्वर शरीर की साज-सज्जा या इसके लिए बर्थ-डे जैसा आमोद-प्रमोद और उत्सव नहीं मनाया। जो है ही नहीं, उसका जन्म कैसा? षोडश संस्कारों में पढ़े जानेवाले पुरुषसूक्त के मंत्र वेदों का निचोड़ हैं, नारायण ऋषिकृत सूत्र हैं। यह भी गीता का ही सार-सर्वस्व है लेकिन इस सूक्त को पढ़नेवाले भी यह भूल गये कि हम क्या पढ़ रहे हैं और सुननेवालों को तो यह पता ही नहीं है कि पंडित क्या कह रहा है। धीरे-धीरे लोग इस पक्ष को भूलते जा रहे हैं कि इन संस्कारों का प्रयोजन क्या है?

शरीर एक वस्त्र है। आज बाजार से बिस्किट खरीदते हैं। कितना चमकीला कवर लगा रहता है उस पर। लेकिन घर आते ही आप वस्तु निकाल लेते हो और पैकिंग को चूल्हे में या कूड़ेदान में डाल देते हो। पैकिंग तो कुछ है ही नहीं, वह मूल वस्तु नहीं है। हमने पैकिंग को खरीदा भी नहीं था; उसका जन्मोत्सव?

एक जन्म तो यह है– शरीर का आविर्भाव! इससे भी बड़ा जन्म वह है जिसके पीछे मृत्यु नहीं है। ऐसा जन्म है आत्मिक जागृति। एक बार जागृति हो गयी तो वह आत्मा शनैः-शनैः सहायता करते हुए ले चलेगा। जहाँ से वह प्रसारण करते हैं (भक्त के हृदय से), जहाँ उस मूल के आमने-सामने खड़ा किया, आपमें दृष्टि बनकर संचारित हो जायेंगे, सामने स्वयं हो जायेंगे और उन्हें जानकर उसी भाव को जो प्राप्त हो गया, उसने उस अविनाशी पद को प्राप्त कर लिया, उसने उस सर्वज्ञ पद को प्राप्त कर लिया जिसका कभी विनाश नहीं है। वह सर्वज्ञाता है।

इसीलिए गौतम बुद्ध ने कहा कि तपस्या के परिणाम में आज हमने उस अविनाशी पद को प्राप्त कर लिया जो पूर्व महर्षियों ने प्राप्त किया था। बुद्ध ने वही पाया जो उनके पूर्व के महाऋषियों ने पाया था। कौन थे पूर्व महाऋषि? जो आपके थे वही! बाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र! इसलिए कि सत्य कभी बदलता नहीं! ऐसा नहीं कि बुद्ध का कोई अलग सम्प्रदाय रहा हो। भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय होता ही नहीं। अन्तर इतना ही है कि कोई साधक आरम्भिक स्तर पर है, कोई मध्य में, कोई प्राप्ति के समीप और कोई पा गया। उसी जन्म के लिए भजन किया जाता है।

जा मरने से जग डरे, सो मेरो आनन्द।
कब मरिहौं तब पाइहौं पूरन परमानन्द॥

जिस मरने से जग डरता है, मनुष्य डरते हैं– सन्त कहते हैं– वह तो हमारा आनन्द है। एक ही चाह रह गयी है कि मैं कब मरूँ और उस पूरण परमानन्द को प्राप्त कर लूँ। लेकिन वह मृत्यु है कैसी? किसी ने गले में फन्दा लगाया और मर भी गया तो क्या परमानन्द प्राप्त हो गया? फन्दा लगाने का एक पाप उसने और कर लिया। उसके प्रारब्ध में यदि दस जन्म लेना नियत है तो इस पाप के बदले उसने दो और बढ़ा लिया। इस प्रकार से शरीरों का अन्त कभी नहीं होता– **'काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप॥'** *(मानस, 6/97)* इसलिए–

जीवत में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सो होय॥

शरीर जिन्दा रहे और मृत्यु हो जाय–**'जीवत में मरना भला'**, किन्तु उस मरने की विधि कोई जान ले तब तो! **'जो मर जाने कोय।'**–और शरीरान्त से पहले जो मृत्यु हो जाय तो वह अजर-अमर-शाश्वत-सनातन स्थिति प्राप्त कर लेगा। उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं कि जीवन शेष है और मुक्ति मिल जाय। सन्त कबीर कहते हैं–

अवधू! जीवत में कर आशा।
मुये मुक्ति गुरु कहे स्वारथी, झूठा दे बिसवासा॥

जीते जी मुक्ति की आशा करो। 'मरने के बाद मुक्ति मिल जायेगी'– यदि ऐसा कोई गुरु कहता है तो गुरुजी का कोई स्वार्थ अवश्य छिपा होगा।

जीवत मन बस हुआ नहीं तो, पुनि देवे बहु त्रासा।
जहँ आशा तहँ बासा, मन का यही तमासा॥

जहाँ की आशाएँ मन में रँगी है, वहीं भविष्य में निवास मिलता है, जन्म मिलता है। यदि जीते जी स्वरूप की उपलब्धि नहीं हुई तो सिद्ध है कि संस्कार बाकी हैं, जन्म लेना पड़ेगा। एक मिनट बाद प्राप्ति होनी है और एक मिनट पहले ही शरीर की आयु पूरी हो गयी तो जन्म लेना पड़ेगा। यह मुक्ति नहीं है। मुक्ति जीते जी ही मिलती है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ *(गीता, 8/13)*

'ओम्' जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जाप कर, मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए **'त्यजन्देहं'**–देहाध्यास का त्यागकर जो ऊपर उठ जाता है वह तत्क्षण परमगति को प्राप्त कर लेता है। देह के होने का कारण है संस्कार। देहाध्यास त्यागने का अर्थ है संस्कार की उस रील का शान्त होना। अन्तिम संस्कार का मिट जाना और मन का अचल स्थिर ठहर जाना एक ही बात है। भीतर संस्कार है और आप चाहे मन को रोक लें– ऐसा नहीं हो सकता। जैसा संस्कार है, वैसा स्फुरण पैदा हो जायेगा इसलिए देह का अध्यास त्यागा जाता है। **'स याति परमां गतिम्'–** वह परमगति प्राप्त कर लेता है। अतः,

मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह॥

मन के ऊपर की माया अंकित होती है। माया जिस पर बैठकर कार्य करती है, वह धरातल है मन। जब मन ही मिट गया तो माया टिकेगी कहाँ? जब मन मरा तो माया मिटी, तहाँ 'हंसा'–यह आत्मा, भक्त निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व हो जाता है। यदि परमात्मा अप्राप्त होता तो हमें उसकी चाह अवश्य होती।

वह भी जब चाहने के लिए अलग नहीं बचा तो भक्त शाहंशाह है, स्वामियों का भी स्वामी है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ *(गीता, 5/19)*

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही समस्त संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। अब समत्व की स्थिति का संसार जीतने से क्या सम्बन्ध है? भगवान कहते हैं– वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी निर्दोष और सम हो गया; '**तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**'– इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। अनपढ़ कबीर ने वही पाया जो संदेश भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दिया। जो भी होना है, जीते जी होना है। सत्य कभी और रहा हो कबीरकाल में, कुछ दूसरा हो गया हो, आगे कुछ और हो जायेगा– ऐसी बात नहीं है। प्राप्तिवाला महापुरुष समाज में कभी दरार डाल ही नहीं सकता।

वैदिक ऋषियों ने संसार को मर्त्यलोक कहा। सभी मरणशील हैं। जिन्हें आप जिन्दा देखते हैं, वह भी श्मशान जाने की कतार में खड़े हैं। मान लें कोई साठ वर्ष का है जिसे पैंसठ वर्ष तक जीना है, उसे मणिकर्णिका जाने में पाँच ही साल तो बचे हैं। वह प्रतीक्षा-सूची में ही तो है। बार-बार होनेवाली मृत्यु से कैसे बचें? वैदिक ऋषि कहते हैं कि इसके लिए परमात्मा में प्रवेश पाओ। '**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति**'–उसी को जानकर आप मृत्यु से परे जा सकते हो। '**नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**'–इसके लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं– एक परमात्मा का सुमिरन करो। कबीर ने भी इसी निर्णय पर बल दिया–

सन्तो! यह मुरदों का गाँव।
केहि कर जप तप सुमिरन करिहौ, कोई अमर न ठाँउ।
सन्तो! यह .....॥

पीर मरे पैगम्बर मरि गये, मरि गये जिन्दा जोगी।
राजा मरिहैं परजा मरिहैं, मरे वैद अरु रोगी॥
सन्तो! यह .....॥

चाँद सुरुज तारागण मरिहैं, मरिहैं धरनि अकासा।
चौदह भुवन चौधिरी मरिहैं, तिनहूँ की का आसा॥
सन्तो! यह .....॥

नाम अनाम रहे सदा ही, दूजा तत्त्व न कोई।
कहत कबीर सुनो भाई संतों, खोज करो तुम सोई॥
सन्तो! यह .....॥

कबीर एक महापुरुष हुए हैं। भगवत्-पथ में माता-पिता की कुलीनता का कोई नियम नहीं है। शृंगी ऋषि मृगों के झुण्ड में पड़े मिले थे। व्यास निषादवंशीय कुँवारी कन्या के लड़के थे। हनुमानजी के पिता होने के कई दावेदार थे। ठीक इसी प्रकार संत कबीर भी काशी में लहर तालाब के किनारे पड़े मिले। जुलाहा दम्पत्ति नीरू और नीमा समीप से जा रहे थे। उन्हें बच्चे का रुदन सुनाई पड़ा। उन्हें सन्तान नहीं थी, बड़ा हर्ष हुआ। बच्चे को उठा लिया, उसे पाला-पोसा। उसका नाम कबीर रखा। क्रमशः वह बढ़ने लगा।

कबीर जन्म-जन्मान्तरों के चले हुए पथिक थे। वह सत्गुरु की तलाश करने लगे। उनकी श्रद्धा एक महापुरुष रामानन्द जी के प्रति हुई। वह उनकी कुटिया में गये। साम्प्रदायिक भेदभाव में पले शिष्यों ने उन्हें जुलाहा समझकर भगा दिया। कबीर एक संस्कारी पुरुष थे। उन्होंने देखा कि गुरुजी तो कम ही बोलते हैं, उनके शिष्य ही अधिक विरोध करते हैं। वह सोचने लगे– किस उपाय से गुरुजी का सान्निध्य प्राप्त करूँ। उन्होंने अध्ययन किया। गुरुजी प्रातः चार बजे ही गंगा-स्नान को जाया करते थे। वह जिन सीढ़ियों से गंगा में उतरते थे, कबीर उस सीढ़ी पर लेट गये। अँधेरे में बहुत दिखाई नहीं पड़ रहा था। गुरुजी अभ्यासवश सीढ़ियाँ उतर रहे थे। उनका पाँव कबीर के ऊपर पड़ा। उनके मुख से 'राम-राम' निकल पड़ा। कबीर ने उसी को गुरुमंत्र मान

लिया। रामानन्द ने कबीर को शिष्य स्वीकार लिया। अब वह आश्रम आने-जाने लगे। रामानन्दजी के शिष्यों में रैदास, पीपाजी, विशुद्धानन्द इत्यादि कई अच्छे वैष्णव सन्त हुए; किन्तु इन सबमें कबीर साहब का स्थान सर्वोपरि रहा। अस्तु, भगवत्पथ में माता-पिता की कुलीनता का कोई सहयोग नहीं होता। जन्म-जन्मान्तरों से चलनेवाला पथिक कहीं भी जन्म ले सकता है। ऐसा ही जन्म महापुरुष ईसा का भी सुनने में आता है।

कबीर के चिन्तन का नाम राम था। स्वयं उन्हीं के अनुसार–

जीव सीव सब प्रगटे, वे ठाकुर वे दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥

इधर अपार जीवों की शृंखला, उधर शिव कल्याण-तत्त्व की मान्यता! कबीर और किसी को नहीं जानता। उसे आशा है तो एक राम-नाम से है। किन्तु राम-नाम में अनुरक्त भक्त के लक्षण क्या हैं?

जे जन भीगे राम रस, विकसित कबहुँ न रुख।
अनभव भाव न दरसिये, तेहिं नर सुख न दुख॥

जो कोई भी जन अर्थात् भक्त राम के रस में सराबोर हो गया, वह सदा विकसित रहता है; **'कबहूँ न रुख'**–उसके जीवन में कभी उदासी आती ही नहीं। क्या प्रमाण है कि हम राम-रस में भींगे हैं? **'अनभव भाव न दरसिये, तेहिं नर सुख न दुख।'**– भावों के प्रवाह के साथ अनुभव न मिले तो उसके लिए न सुख है, न दुःख है। संकल्पों की लहर के साथ भगवान योगक्षेम प्रदान करने लगें, वह बताने लगें कि कौन संकल्प गलत जा रहा है, कौन सही?–यदि ऐसी जागृति नहीं है तो उस भक्त के लिए सुख-दुःख कुछ है ही नहीं। वह प्राप्ति के लिए प्रयास मात्र है। अभी उसने पाया नहीं है। **'तुलसी (मन) बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै'**– यह अयुक्त मन तभी वश में होता है जब स्वयं प्रेरक प्रभु उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ और हमारी रोकथाम करने लगें। उसी का नाम है अनुभव! भव से अतीत करा देनेवाली जागृति! कबीर के आराध्य भगवान राम थे–

कुसल कहत कहत जग बिनसे, कुसल काल की फाँसी।
कह कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे जमपुर जासी॥

लोग परस्पर कुशलक्षेम पूछते हैं। कोई कहते हैं कि लड़के को अच्छी नौकरी मिल गयी, कुशल है। किसी ने कहा– नाती-पनाती पैदा हुआ है, पदोन्नति मिल गयी; यह कुशल, वह कुशल! कबीर कहते हैं, यह कुशल है या काल का फन्दा? क्योंकि 'यह कुशल....वह कुशल...' कहते-कहते आयु के दिन पूरे हो गये। जिस कमी की पूर्ति के लिए यह मानव-तन मिला, उसके लिए सोचने का अवसर नहीं मिला और हम काल कवलित हो गये। कबीर कहते हैं– ऐसी परिस्थिति में यदि तुम एकमात्र राम का भजन नहीं करोगे तो बरबस जकड़कर यमलोक पहुँचा दिये जाओगे। कौन-से राम? राम की परिभाषा कबीर ने दी–

एक राम घट घट में लेटा, एक राम दसरथ का बेटा।
एक राम का सकल पसारा, एक राम सब जग से न्यारा॥

सुनने में ऐसा लगता है कि कबीर चार राम का वर्णन कर रहे हैं; किन्तु ऐसी बात नहीं है। यहाँ कबीर एक ही राम की चार स्थितियों का वर्णन कर रहे हैं। सृष्टि में राम एक हैं। सृष्टि अनन्त है लेकिन भगवान केवल एक हैं। वह रहता कहाँ है?–तो **'एक राम घट घट में लेटा'**। **'सब घट मेरा साइयाँ'**– उस प्रभु का निवास हृदय में है। कबीर ने कोई नया निर्णय नहीं दिया। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! जानते हो, ईश्वर कहाँ रहता है? गीता के आरम्भ में भगवान ने नहीं बताया। उस समय तो अर्जुन के प्रश्न ही प्रश्न थे। अठारहवें अध्याय तक जाते-जाते जब उसके प्रश्न हल हो गये, वह शान्त हो गया। भगवान ने देखा, इसमें अब पात्रता आ गयी है, समझने की क्षमता आ गयी है, तब उन्होंने बताया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। वह इतना समीप है तो लोग उसे देखते क्यों नहीं? भगवान बताते हैं कि

मायारूपी यंत्र में आरूढ़ होकर भ्रमवश लोग भटकते ही रहते हैं इसलिए ईश्वर को नहीं जानते। इस यन्त्र पर लोग स्वयं ही कूदकर चढ़ जाते हैं जिससे वह चक्कर लगाते ही जा रहे हैं, ईश्वर को नहीं पहचान पाते। जब ईश्वर हृदय में ही है तो हम शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता, 18/62)

अर्जुन! उसी हृदयस्थित ईश्वर की शरण में जाओ। '**सर्वभावेन**'–ऐसा नहीं कि थोड़ा भाव संकटमोचन में, थोड़ा पशुपतिनाथ में, कुछ मैहर देवी तो कुछ कामाख्या देवी में भाव रखें। तब तो हम बारह आने लीक हो गये। हृदयवाले परमात्मा के हिस्से में चौथाई श्रद्धा भी नहीं रह गयी तो कल्याण कैसे हो? इसलिए '**सर्वभावेन**'–मन को समग्र रूप से चारों ओर से समेटकर हृदयस्थित ईश्वर की शरण में जाओ।

मान लें, हम सारे पूर्वाग्रहों को छोड़कर हृदयस्थित ईश्वर की शरण में चले ही गये तो उससे लाभ क्या? भगवान बताते हैं– '**तत्प्रसादात्परां शान्तिम्**'–उसके कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति प्राप्त कर लोगे और उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है। तुम रहोगे, तुम्हारा जीवन रहेगा, तुम्हारा घर रहेगा। ऐसा नहीं कि घर में हर साल चूना पोतो। इसकी जरूरत नहीं रह जायेगी। शाश्वत शान्ति जो सदा रहेगी, तुम्हें मिलेगी। इस प्रकार गीता के अनुसार भगवान का निवास-स्थान हृदय! शरण उसी प्रभु की! कबीर पढ़े-लिखे तो नहीं थे लेकिन उन्होंने अपने अनुभव में पाया तो निर्णय दिया– '**एक राम घट घट में लेटा**'–वह सबके हृदय-देश में निवास करता है।

राम होगा हृदय-देश में! वह हमारे उपयोग में कैसे आये? इस पर सन्त कबीर कहते हैं– सरल-सा उपाय है, '**एक राम दसरथ का बेटा**'। यह मानस है। दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। विषयों के भोग से तो कभी इन्द्रियों का संयम होगा ही नहीं। '**जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।**' यदि एक ट्रक हो गया तो दूसरे की बुकिंग करा लोगे। दो फैक्ट्री

हो गयी तो तीसरे की योजना बन जायेगी। भोगों से भी चित्त कहीं तृप्त होता है? चित्त और भी भड़क उठता है। कहीं से कोई क्षति होने लगती है तो ब्लडप्रेशर हाई होने लगता है। इन्द्रियों का निरोध, इन्द्रियों का संयम सधता है एक प्रभु के सुमिरन से। शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है। जब मन की लगाम हमारे हाथ में हो, भगवान के सुमिरन से हमारा स्तर इतना उन्नत हो जाय कि हम इसे जिधर चाहें उधर चलायें, यही है दस रथ! दसों इन्द्रियों की लगाम हमारे हाथ में हो जाय। जहाँ संयम सधा तो भगवान जानते हैं कि यह केवल मुझे पुकार रहा है, वह तुरन्त प्रकट जो जायेंगे, आपसे बातें करेंगे। स्तर और उन्नत हो जाने पर आप गिरना चाहें तब भी वह आपको गिरने नहीं देंगे। जो राम हृदय में लेटा है, वही दसों इन्द्रियों के संयम के साथ प्रकट हो जाता है।

'एक राम का सकल पसारा'

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! मेरे तेज के अंशमात्र से सारी सृष्टि का संचालन है। वही कबीर कहते हैं– **'एक राम का सकल पसारा'**। राम तो एक ही हैं लेकिन यावन्मात्र जो कुछ जगत् है, यह पट-प्रसार उन्हीं के तेज के अंशमात्र से है। इतना कुछ करने पर भी वह द्रष्टा है। **'एक राम सब जग से न्यारा'**–सबमें रहते हुए भी वह सबसे अतीत है, निर्लेप है, परे है। इस प्रकार संत कबीर ने भगवान का निवास, भगवान की जागृति, भगवान की विभूति और सबका पालन-पोषण करते हुए भी सबसे निर्लेप भगवान की महिमा का गायन किया। उनके आराध्य एकमात्र राम थे। **'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम।'**–जो सबके हृदय में रमण करता है और जिसमें योगीलोग रमण करते हैं, उसका नाम राम है।

सम्पूर्ण विश्व में भजन का अर्थ लोग इतना तो जानते ही हैं कि अविनाशी शाश्वत कोई ऐसी सत्ता है जो ज्योतिर्मय है, सर्वोच्च है, उसे पुकारो। उन्हें यह बताना नहीं पड़ता कि भजन किसका करो; लेकिन भारत में यह बताना आवश्यक है कि भजन किसका करें! हम भी सर्वप्रथम यही बताते हैं क्योंकि सबसे अधिक देवताओं की पूजा आरम्भ में हम भी करते थे।

श्रीकृष्ण का विराट् स्वरूप, जिसमें देवता ही देवता हैं, उसकी पूजा हम करते थे। उस चित्र को खरीदते समय हमने दुकानदार से पूछा था कि कोई देवता इसके बाहर तो नहीं है? उसने कहा– अरे! इसके बाहर कोई हो भी नहीं सकता। इस प्रकार सकल देवताओं की पूजा से तो हमने भजन शुरू किया था। आज लोग तो दो-चार-दस देवताओं के पुजारी हो। इससे क्या हो गया? पूरा भारत ही देवपूजक है। एक भगवान की पूजा तो महात्माओं के सान्निध्य के बाद ही शुरू होती है। हाँ, संसार में अधिकांश देशों में एक भगवान के पुजारी हैं। जिन्हें आप भगवान मानते हो, उन देवताओं की पूजा अज्ञान की देन है। भगवान राम कहते हैं–

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥

(मानस, 7/86/1-2)

एक पिता के बहुत से पुत्र हैं। उनमें से कोई पंडित है तो कोई शूरवीर; कोई ज्ञाता है तो कोई दानदाता है। एक से एक गुणी हैं किन्तु उन्हीं में कोई ऐसा भी है जो इन गुणों से तो हीन है लेकिन मन-क्रम-वचन से पिता का भक्त है।

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥

(मानस, 7/86/5)

ऐसा पुत्र पिता को प्राणों के समान प्रिय होता है। ठीक इसी प्रकार–

एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥

(मानस, 7/86-6-7)

यह सम्पूर्ण विश्व मेरा ही उत्पन्न किया हुआ है। सब पर मेरी समान दयादृष्टि है। इनमें से कोई आपको प्यारा भी है? भगवान कहते हैं–

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥

(मानस, 7/86/8)

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥

(मानस, 7/87क)

इनमें से जो कोई कपट का त्याग करके सम्पूर्ण भाव से मुझे भजता है, वह मुझे परम प्रिय है – वह स्त्री, पुरुष या नपुंसक कोई भी हो; वह देव, दानव, मानव, तिर्यक् कोई भी हो। यदि वह भजन नहीं करता तो देवाधिदेव ब्रह्मा ही क्यों न हो, **'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥'** *(मानस, 7/85/9)*– वह भी मुझे उतना ही प्रिय है जितने सभी जीव; कूकर-शूकर-मृग इत्यादि। यहाँ भगवान राम देवताओं को भी मनुष्यों की आबादी बताते हैं, उन्हें जन्म लेनेवाला, मरनेवाला बताते हैं। यही भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं– अर्जुन! देवलोक में भी ऐसा कोई नहीं जो इस प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से अतीत हो। प्रकृति के अन्तर्गत वस्तुओं की पूजा प्रकृति की ही पूजा है। इसलिए भजन एक भगवान का करना चाहिए।

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान॥

(मानस, 7/78क)

राम, एक परमात्मा के भजन बिना यदि कोई कल्याण चाहता है, वह बिना सींग-पूँछ का पशु है। उसमें और बैल में कोई अन्तर ही नहीं है। इससे अधिक खरी-खोटी गोस्वामीजी क्या कहते! हैं तो हम भले-चंगे मनुष्य; किन्तु संज्ञा पशु की मिल रही है। अस्तु, प्राचीनकाल से जितने महापुरुष या अवतार हुए हैं, उन सबका उद्घोष है कि सत्य नित्य केवल एक आत्मा है। यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है। वह आज है तो कल नहीं रहेगा। मरणधर्मा की पूजा कर आप मृत्यु ही पायेंगे। अविनाशी की पूजा से अविनाशी पद मिलेगा इसलिए **'एक भरोसा एक बल एक आस बिस्वास।'** *(दोहावली, 277)*– एक परमात्मा का ही भजन करना चाहिए, एकमात्र वही शाश्वत है। इसी आशय का यह भजन भी है–

सन्तो! यह मुरदों का गाँव।

हम-आप खाते-पीते, भले-चंगे यहाँ पर बैठे हैं; किन्तु कबीर कहते हैं– नहीं, यह तो मुर्दों का गाँव है। सब मणिकर्णिका घाट के लिए प्रतीक्षारत हैं, सभी श्मशान की ओर उन्मुख हैं। आज नहीं तो कल सबको जाना ही है। कबीर ने कोई अपशब्द नहीं कहा। यही तो पूर्व महर्षियों ने, वैदिक ऋषियों ने कहा। इस लोक को मर्त्यलोक कहा। यह मरणधर्मा प्राणियों की निवास-स्थली है। कबीर ने इसे गाँव कहा। गाँव छोटा होता है, लोक बड़ा होता है।

रामचरितमानस का प्रसंग है। एक बार कागभुसुण्डि को भगवान ने दर्शन दिया। वह पशोपेश में पड़ गये– क्या यही हैं भगवान? जितना दिखायी दे रहा है, क्या इतनी ही है भगवान की कुल महिमा! भगवान ने उनका अभिप्राय समझ कृपा का सूत्र बढ़ा दिया। प्रभु मुस्कराये, भुशुण्डिजी चले गये भगवान के मुख में। भगवान के उदर में उन्हें एक नवीन सृष्टि का साक्षात् हुआ–

उदर माझ सुनु अण्डज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया।।

(मानस, 7/79/3)

अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला।।

(मानस, 7/79/6)

भगवान के उदर में उन्होंने अनन्त लोकों को देखा, अनन्त ब्रह्माण्डों को देखा। भगवान के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड भ्रमण कर रहे थे। सबमें आबादी थी–

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।।

(मानस, 7/80/1)

हर ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा, विष्णु, महेश, मनु और दिग्पाल भिन्न ही थे। इतना ही नहीं, '**बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।**'–हर ब्रह्माण्ड में भाई लक्ष्मण, भरत इत्यादि अलग-अलग ही थे।

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन॥

(मानस, 7/81क)

हमने असंख्य भुवनों का भ्रमण किया, किन्तु **'राम न देखेउँ आन'**– यदि एकरस, एकमुद्रा में कोई दिखायी पड़ा तो वह केवल भगवान थे। ब्रह्मा भी वृद्ध और युवा होनेवाले! विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्रमा सभी परिवर्तनशील। **'प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा'**– हर ब्रह्माण्ड में हमने प्रभु का अवतार भी देखा अर्थात् भगवान सबको सुलभ हैं, सबको उपलब्ध हैं।

आपके ब्रह्माण्ड में यह चन्द्रमा है, यह सूर्य है जिन्हें हम-आप देखते हैं। दूसरे ब्रह्माण्ड के अलग ही सूर्य, असंख्य तारें! सूर्य भी एक तारा ही तो है। इस अनन्त ब्रह्माण्ड में आपकी पृथ्वी एक गाँव जितनी ही तो है। यही सम्पूर्ण सृष्टि नहीं है। यह तो अनन्त का ही एक अंश है, इकाई है, टुकड़ा मात्र है इसीलिए कबीर कहते हैं– **'यह मुरदों का गाँव।'**

केहि कर जप तप सुमिरन करिहौ कोउ अमर ना ठाँव।

अब आप किसका जप करेंगे? किसके लिए तप करेंगे? मनसहित इन्द्रियों को किसके लिए तपायेंगे? आप किसका सतत सुमिरन करेंगे? यहाँ मृत्यु से परे अमर कोई स्थान है ही नहीं। जो कुछ है मरणशील है। यह आज है तो कल लुप्त हो जायेगा। यहाँ सबकुछ अस्तित्वविहीन है। अतः आप ही बतायें, किसका जप करेंगे? प्रश्न उठता है– यहाँ जो भी दिखायी देता है, सब मुर्दा है? कबीर कहते हैं– हाँ,

पीर मरे पैगम्बर मरि गये, मरि गये जिन्दा जोगी।

पीर कहते हैं गुरु को! गुरु भी गुरुत्व प्रदान कर लोप हो जाते हैं– **'जहाँ गुरु न चेला, पुरुष अकेला।'** पैगम्बर कहते हैं अवतार को! अवतार योगी के हृदय में होता है। उसकी व्यवस्था सबके हृदय में है। जो भी चिन्तन में डूबता है, उसके हृदय में वह प्रकट हो जाते हैं। अवतार साधक की उँगली पकड़कर चलायेंगे, स्वरूपपर्यन्त दूरी तय करायेंगे; किन्तु स्थिति दिलाकर अवतार भी शान्त हो जाता है। इसके उपरान्त अवतार का प्रयोजन नहीं रह

जाता– **'पीर मरे पैगम्बर मरि गये'**। और **'मरि गये जिन्दा जोगी'**–सब तो मर गये लेकिन जोगी जिन्दा है। जैसा शंकराचार्य कहते हैं– वही मृत्यु सराहनीय है जिसके पीछे मृत्यु न हो और वही जन्म सराहनीय है जिसका पुनर्जन्म न हो। महापुरुष जब आत्मिक परिवेश में आ जाता है, उस दिन से वह जिन्दा है। उसने अपना निज जीवन पा लिया; किन्तु जब तक आत्मस्थिति नहीं मिल जाती, उसे भी जन्मना-मरना पड़ेगा। है तो वह जिन्दा, उसका सर्वथा नाश तो कभी नहीं होगा। थोड़ा भी बीज पड़ गया तो माया में ऐसा कोई यंत्र नहीं है कि उसे मिटा दे। वह नष्ट तो नहीं होगा किन्तु जब तक मंजिल नहीं मिल जाती, उसे भी जन्मना-मरना पड़ेगा।

'राजा मरिहैं, परजा मरिहैं' प्रजा तो बेचारी मरने के लिए ही होती है। कोई बीमारी से मर गया तो कोई निर्धनता से ऊबकर मौत को गले लगा लेता है। न झण्डा ही झुका और न उन गरीबों के यहाँ जाकर किसी ने जाँच ही किया कि परिवार का भरण-पोषण करनेवाला तो मर गया, अब पीछेवालों को दो रोटी मिलने का प्रबन्ध है या नहीं। अतः प्रजा का क्या; किन्तु राजा! उनके चारों ओर से पहरा लगा है, कर्मचारी सुरक्षा में लगे हैं, योद्धाओं की कतार लगी है, इन सबके बावजूद राजा भी मर गये।

दमिश्क का सुल्तान बड़ा पराक्रमी और प्रतापी था। उसके राज्य का बड़ा लम्बा विस्तार भी था। एक दिन उसने स्वप्न देखा– मौत का पंजा उसकी पीठ पर पड़ा, 'बड़े वेग से मेरे पास आ जाओ। ठीक समय पर और ठीक जगह पर!' भला मौत का पंजा जिसके शरीर पर पड़ा हो, उसके पूरे शरीर में सिहरन पैदा हो गयी। घबराहट से चीख निकल गयी। तुरन्त खतरे की घण्टी बज उठी। रात दो बजे ही सेना तैयार हो गयी। सेनापति ने पूछा– जहाँपनाह! हुआ क्या? उन्होंने अपना स्वप्न सुना दिया। सबकी गर्दनें लटक गयीं। कोई शत्रु हमला करता तो वे मुँहतोड़ जवाब देते! अब मौत को कोई कहाँ ढूँढ़े! सोच-विचारकर निर्णय लिया गया कि इस महल में ही कुछ है। आप किसी तीव्रगामी घोड़े से बहुत दूर निकल जाइये। सेनापति ने ही घोड़े का चयन किया।

अकेला बादशाह! चल पड़ा वेग से घोड़े को दौड़ाते हुए! दोपहर हो आयी। गर्मियों की चिलचिलाती धूप, लेकिन वह मरुस्थल में भागा जा रहा था। शाम होते–होते वह हल्की-सी झाड़ियों में पहुँचा। अब न तो घोड़े में दस कदम चलने की क्षमता रह गयी थी और न सवार में हाँकने की! वह घोड़े से उतरकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वह विचार करने लगा– वाह! बहुत दूर आ गये। इतने में मौत का हाथ पड़ा, आवाज आयी– तुम बड़े वेग से आये, ठीक समय पर आये और ठीक जगह पर आ गये। उसके प्राण-पखेरु उड़ गये। भला मौत से भी भागा जा सकता है? सारे प्रयास विफल हो गये। इंदिराजी के चारों तरफ पहरा लगा हुआ था, पहरा ही काल बन गया–

आसपास जोधा खड़े, सबहिं बजावैं गाल।
मंझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल॥

यही है **'राजा मरिहैं परजा मरिहैं'**। और **'मरे वैद अरु रोगी'**– रोगी का क्या ठिकाना! इलाज चल रहा है। डॉक्टर बोल देंगे–एक्सपायर्ड! एकान्त में बैठकर वे चाय भी पी लेंगे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। रोज मरीजों को मरते देख कितना शोक मनायें? रोगी तो मौत के मुख में था ही, ठीक होने के स्थान पर वह मौत की ओर खिसक गया; किन्तु वैद्य जो जीवन देनेवाले हैं, वह भी मरते हुए देखे जाते हैं।

संसार में एक से बढ़कर एक यशस्वी वैद्य हुए हैं। कहा जाता है कि समुद्र-मंथन से एक वैद्य प्रकट हुए– धन्वन्तरि। वे भगवान के अवतार कहे जाते थे। उनके जीवन में एक घटना घटित हुई। राजा परीक्षित को शाप था कि आठवें दिन तक्षक नाग के काटने से उनकी मृत्यु होगी। धन्वन्तरि को ज्ञात हुआ। उन्होंने दवा की झोली उठायी और चल पड़े राजा को बचाने। उधर तक्षक भी राजा को डँसने चला। रास्ते में ही दोनों की भेंट हो गयी।

तक्षक ने कहा– "वैद्यजी! कहाँ की तैयारी है?" वैद्य ने कहा– "हमारे राजा बड़े धर्मात्मा हैं। शापवश आज उन्हें तक्षक काटेगा, मैं उन्हें जिलाने जा रहा हूँ।" तक्षक अपने वेश में आ गया। उसने कहा– "तक्षक तो मैं हूँ। मैं इस पीपल वृक्ष को काटता हूँ, आप इसे जिलायें!" हरा-भरा विशालकाय

वृक्ष! तक्षक के डँसते ही धुआँ निकलने लगा, पत्तियाँ जहर से काली पड़कर खनखनाने लगीं। धन्वन्तरि ने दवा का प्रयोग किया। वृक्ष पुनः हरा-भरा लहलहाने लगा।

तक्षक चिन्ता में पड़ गया। उसने सोचा, तब तो मेरा वहाँ जाना ही व्यर्थ है। वह वैद्य की प्रशंसा कर पूछने लगा– ''गुरुजी! आपकी पहुँच कहाँ तक है?'' वैद्य बोले– ''बेटा तक्षक! मेरी दृष्टि में पड़ा व्यक्ति मर ही नहीं सकता।'' तक्षक ने कहा– ''वैद्यराज! जहाँ आपकी दृष्टि न पड़े वहाँ?'' धन्वन्तरि ने कहा– ''वहाँ मेरा कोई वश नहीं है।'' तक्षक ने तीन बार चरण स्पर्श किया और आगे निकल गया।

जिस मार्ग से धन्वन्तरि को जाना था, तक्षक एक सुन्दर-सी छड़ी का रूप बनाकर निश्चेष्ट पड़ गया। वैद्यराज ने चिकनी-सी छड़ी देखी। उसका एक सिरा कुछ मुड़ा हुआ था। उन्हें लगा, यह थैली टाँगने लायक है। झोला हाथ में लिए-लिए कुछ दर्द भी हो रहा था। झोला लटकाकर ज्योंही वैद्य ने कन्धे पर छड़ी रखा, तक्षक ने उनकी पीठ में डँस लिया। उनकी दृष्टि वहाँ पहुँच ही नहीं पायी, वहीं ढेर हो गये। वह गये थे जीवन देने, स्वयं ही चले गये। **'मरे वैद्य अरु रोगी'**– अवतार की स्थितिवाले वैद्य भी चल बसे। कुछ लोग सूर्य-चन्द्रमा इत्यादि की पूजा करते हैं। कबीर कहते हैं–

चाँद सुरुज तारागन मरिहैं, मरिहैं धरनि अकासा।

काल आने पर चाँद, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, तारे भी अपनी कक्षा से डोल जाते हैं, एक ग्रह दूसरे में समा जाते हैं। यह पृथ्वी और आकाश भी परिवर्तित हो जायँगे। ऐसी परिस्थिति में आप किसका भजन करेंगे?

चौदह भुवन के चौधिरी मरिहैं, तिन्हहू की का आसा।

चौदहों भुवन के निर्माता ब्रह्मा भी अपनी आयु पूरी कर शान्त हो जाते हैं। जब उन्हें भी मर ही जाना है तो हम उनसे कौन-सी आशा करें? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ *(गीता, 8/16)*

सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा और उनसे उत्पन्न चौदहों भुवन, चराचर जगत्, दिति-अदिति की सन्तानें, यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है, जन्मने और मरनेवाला है; किन्तु अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। जब ब्रह्मा भी समय पूरा हो जाने पर अपने लोकों सहित शान्त हो जाता है तो हम किसका जप-तप सुमिरन करें? उस प्रभु को देखा नहीं है कि उनका ध्यान धर लोगे? तो हम क्या करें? कबीर कहते हैं– उन प्रभु के नाम का सुमिरन करो।

नाम अनाम रहे सदा ही, दूजा तत्त्व न कोई।

नाम अनाम है, अनिर्वचनीय है, वाणी का विषय नहीं है। जो नाम वाणी से कहा जाता है, 'राम...राम...राम...' ऐसा नहीं।

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।।

(मानस, 1/20/7)

गोस्वामीजी कहते हैं– नाम और रूप दोनों की गति अकथनीय कथानक है। ये समझने में सुखदायी हैं किन्तु इन्हें व्यक्त नहीं किया जा सकता। कबीर ने इसी नाम पर बल दिया है–

शब्द शब्द सब कोई कहै वह तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवे नहीं निरखि परखि कर लेहु।।

पूरा संसार शब्द-शब्द की रट लगाये पड़ा है। कोई कहते हैं– शब्द ही ब्रह्म है, शब्द का आदेश मानो! किन्तु जिससे कल्याण होना है, वह शब्द विदेह है। भजन इतना उन्नत हो जाय कि देहाध्यास शान्त हो जाय। देहाध्यास जिस क्षण शान्त हुआ, वह शब्द आपके हृदय में जागृत, प्रसारित हो जायेगा। उस शब्द का उच्चारण इस जिह्वा से करते नहीं बनता। जो उच्चारण होता है, वह शब्द है ही नहीं। वह वाणी का विषय नहीं है। उसे निरखा और परखा जाता है। वह अपौरुषेय परमात्मा की वाणी है। उसके संरक्षण में चलने का नाम भजन है। यह नाम अनाम है और **'रहे सदा ही'**–सदैव रहनेवाला है, शाश्वत है। **'दूजा तत्त्व न कोई'**–दूसरा कोई सार तत्त्व कहीं भी नहीं है, न सृष्टि में न अन्यत्र ही। इसलिए,

कहत कबीर सुनो भाई सन्तो! खोज करो तुम सोई।।

कबीर कहते हैं– सन्तो! ध्यान दो। तुम उसी की शोध करो। कबीर की अधिकांश वाणी सन्तों को सम्बोधित कर कही गयी है। वह जानते थे कि जिस स्तर की बात वह कर रहे हैं, उसे समझने की क्षमता सबमें नहीं हो सकती। जिनमें वह क्षमता पायी गयी, वह थे संत या **'अवधू बेगम देश है मेरा'** अथवा **'कोई पण्डित ज्ञानी'**। अवधू, ज्ञानी, पण्डित– सभी संत के पर्याय हैं। उन्हें ही लक्ष्य कर कबीर यहाँ कहते हैं कि सन्तो! उस शब्द की खोज करो जो विदेहावस्था में विदित होता है, जो एक परमात्मा के नाम जप की अत्युत्कृष्ट अवस्था में जागृत हो जाता है।

राम नाम में अन्तर है, कहीं हीरा है कहीं पत्थर है।

आरम्भ में जिह्वा से जपा जानेवाला 'राम-राम' कण्ठ से और तदनन्तर श्वास से जपा जाता है। वही परावाणी के प्रवेश के साथ अनिर्वचनीय हो जाता है और जहाँ परा की क्षमता आयी, अपौरुषेय वाणी उतरने लगेगी, भगवान योगक्षेम करने लगेंगे। उनके निर्देशों को देखो, समझो और लगो।

'खोज करो तुम सोई'–कबीर कहते हैं, केवल एक उसी भगवान का भजन करो। सृष्टि में ऐसा किञ्चित् भी स्थान नहीं है जो काल से बचा हो। सब काल-कवलित हैं, **'कोई अमर न ठाँऊ'**; इसलिए प्रभु के उस नाम का सुमिरन करो जो सीधा उन्हें पुकारता हो।

प्रश्न खड़ा होता है कि हम इस मृत्युलोक में क्यों बने हुए हैं? हम मुर्दों के गाँव के नागरिक क्यों हैं? हम भवाटवी में क्यों भटक रहे हैं? हम अभय पद के नागरिक क्यों नहीं हैं? इन्हीं कारणों की ओर इस पद में कबीर ने संकेत किया है और यही रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने अंगद-रावण संवाद के प्रसंग में बताया।

रावण ने भगवान श्रीराम को मनुष्य कहा। अंगद बिगड़ खड़ा हुआ। उन्होंने कहा– रावण! मैं तुम्हें मार सकता हूँ; किन्तु इससे मेरा अपयश होगा क्योंकि मुर्दों को मारने से कोई यश नहीं होता। तू मुर्दा है–

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।।

(मानस, 6/30/2)

कौल अर्थात् वाममार्गी! जो सीधा अपने आत्मपथ पर अग्रसर है, वह स्वपथ पर है; किन्तु वाममार्गी **'तजि श्रुति पंथु बाम पथ चलहीं।'** *(मानस, 2/167/7)*– भूत-भवानी, धूत-पोंगड़ा में भटका हुआ है। **'काम बस'**– हृदय में इच्छाओं का अम्बार लगा है, **'कृपन'**– जो भजन नहीं करता! गीता में भजन करनेवालों को उदार कहा गया (गीता, 7/18)। **'विमूढ़'**– तू अत्यन्त मूढ़ है, **'जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम'** *(मानस)* तब भी तेरी समझ में नहीं आता।

'अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।'–रावण! तू अत्यन्त दरिद्र है। सोने की लंका थी। विश्व का वैभव, रत्न कहलानेवाली सामग्री लंका में थी फिर भी अंगद ने उसे दरिद्र कहा। दरिद्र वह है जिसके पास आत्मिक सम्पत्ति न हो। रावण वास्तव में आत्मिक सम्पत्ति से वंचित था। मीरा के पास धन की कमी नहीं थी, हिन्दुओं के सबसे प्रतिष्ठित राजघराने की साम्राज्ञी थी। भगवान के विरह में उसने आभूषणों का परित्याग कर दिया, तुलसी की माला और तम्बूरा ले लिया। धीरे-धीरे परमात्मा में उसकी लौ लग गयी। उसने कहा–

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु किरिपा करि अपनायो।

राम-नाम ऐसी वस्तु है जिसका मूल्य कोई चुका ही नहीं सकता। उसके समान कुछ है ही नहीं! क्या देकर उसे लोगे? इसे तो सद्गुरु ने कृपा करके हमें प्रदान किया है। क्या विशेषता है इसमें?–

खाय न खूँटे चोर न लूटे, दिन दिन बढ़त सवायो।

जितना रगड़ करेंगे, नाम की उतनी ही अभिवृद्धि होती जायेगी। अंततः नाम नामी से मिला देगा जो अक्षय धाम है, अनन्त जीवन है, शाश्वत शान्ति है। वह अविनाशी है तो आपका भी पद अविनाशी रहेगा। वह लक्ष्मीपति है तो लक्ष्मी सदैव आपकी सेवा में रहेगी। यह ऐसा धन है जिसे पाने के बाद

आप कभी निर्धन नहीं होंगे। सांसारिक धन-वैभव का क्या ठिकाना! **'सोइ पुर पाटन सो गली, बहुरि न देखा आइ।'**–मर-खपकर जिस वैभव का संग्रह किया, मृत्यु के पश्चात् लौटकर उसे देख भी नहीं सकते। यह जीवन जन्म-मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है। यहाँ कोई थोड़ा ऊपर बैठकर आयु के दिन व्यतीत करता है तो कोई फुटपाथ पर! धन वह है जो हमारी आत्मा का सहयोग करे, सहज स्वरूप दिलाये, सदा रहनेवाली समृद्धि प्रदान कर दे। वह धन प्रभु के नाम का है। रावण! तू उससे हीन है इसलिए अति दरिद्र है। तू अयसी है। तुमने जो कृत्य किये हैं, वे कुकृत्य हैं। लोग यशोगान करें, तुममें ऐसा कुछ भी नहीं है।

'अति बूढ़ा'–रावण की बहुत लम्बी आयु थी। अंगद ने कहा– वैसे भी तू बहुत बूढ़ा हो चला है, तुझे मारने से क्या यश मिलेगा? इतना ही नहीं, तू तो–**'सदा रोग बस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी।।'** *(मानस, 6/30/3)*– रावण! तू तो रोग से भी आक्रान्त है। विचारणीय है रावण के शरीर में कोई बीमारी नहीं थी। शरीर से वह बड़ा बलिष्ठ था। युद्ध में उसका पराक्रम कम नहीं था, फिर भी अंगद ने उसे रोगी कहा। एक रोग शारीरिक होता है, जैसे– फोड़ा-फुन्सी या बुखार हो जाय; किन्तु दूसरा रोग मानस रोग है जो अधिक भयानक है–

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।

(मानस, 7/120/29-31)

मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। काम वात है, क्रोध पित्त है, लोभ कफ है। **'अहंकार अति दुखद डमरुआ'**–अहंकार गाँठ का दुःखदायी रोग है। **'तृष्ना उदरबृद्धि अति भारी।'**–तृष्णा उदर-सम्बन्धी रोग है। इस प्रकार उन्होंने पन्द्रह-पच्चीस रोगों का नाम गिनाया और कहा– **'मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबकें लखि बिरलेन्ह पाये।।'** *(मानस, 7/121/2)*–ये मन के रोग हैं, आवागमन में भ्रमण करानेवाले भवरोग हैं। हमने कुछ रोगों

का ही वर्णन किया है; सभी को तो कोई विरला ही देख पाया है। रावण के पास ये सभी रोग थे। वह **'सदा रोगबस'** था। रोगमुक्ति का उपाय उसने किया ही नहीं। वह संतत क्रोध के वशीभूत था, विष्णु-विमुख था; विश्व में जो अणुसत्ता परमात्मा हैं, उनके विमुख था। वह श्रुति और सन्तों का विरोधी भी था–

तनु पोषक निन्दक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥

(मानस, 6/30/4)

केवल शरीर को ही सर्वस्व समझकर इसी के भरण-पोषण में जो जीवन काटता है, वह '**तनु पोषक**' है। वह जीते जी मुर्दा ही है; क्योंकि शरीर छूट जाने पर फिर कोई योनि ही मिलेगी। उसने तन तक की चिन्ता की, शाश्वत की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इसी प्रकार निन्दा करनेवाले, पाप की खान– ये सभी यद्यपि हिल-डुल रहे हैं, वस्तुतः मुर्दा हैं। मृत्युलोक का नागरिक होने का कारण ये मानस-रोग हैं।

ठीक यही सन्त कबीर कहते हैं– **'सन्तो! यह मुरदों का गाँव।'** इस मरणधर्मा संसार में आप किसका जप करेंगे? किसके लिए आप मनसहित इन्द्रियों को तपायेंगे? यहाँ **'कोई अमर न ठाँऊ'**–मृत्यु से मुक्त कोई स्थान नहीं है। इसलिए आप एकमात्र परमात्मा का नाम पकड़ो, उसका सुमिरन करो। नाम जपते-जपते अनाम की स्थिति में स्वाँस में छिपा शब्द जागृत हो जायेगा, उसे निरखो और परखो। आपकी सारी दरिद्रता दूर हो जायेगी। आप अपना धाम पा जायेंगे।

सन्त कबीर ने एक परमात्मा के चिन्तन पर बल दिया है। कुछ लोग उन्हें निर्गुण उपासक कहते हैं; किन्तु निर्गुण नाम की कोई उपासना होती ही नहीं। उपासना जब भी चलती है, सगुण से होती है। उपासना के परिणाम में जो स्थिति मिलती है वह गुणातीत है। तीनों गुणों से अतीत वह सत्ता निर्गुण कहलाती है। उस समय वहाँ भगवान निराकार कहलाते हैं, न कि निराकार कोई मत या पंथ है।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

गइया एक बिरंचि दियो है

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरुं तं नमामि॥

(गुरुगीता, 111)

आज हमलोग महान् सन्त कबीरदासजी के एक पद को हृदयंगम करने का प्रयास करते हैं। पद इस प्रकार है–

भाई रे! गइया एक बिरंचि दियो है।

गइया भार अभार भौ भारी।
नौ नारी का पानी पियतु है, त्रिखा तैयो न बुझाई॥
गइया एक.....॥

कोठा बहत्तर औ लौ लाये, वज्र कीवार लगाई।
खूँटा गाड़ि दवरि दिढ़ बान्हे, तैयो तोरि पराई॥
गइया एक.....॥

चार बिछ छः शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक ले गम कीन्हेसि गइया, गइया अति हरहाई॥
गइया एक.....॥

ई सातों औरों हैं सातों, नौ और चौदा भाई।
एतिक गइया खाय बढ़ायो, गइया तयो न अघाई॥
गइया एक.....॥

पुरता में रातीप है गइया, सेंत सगी है भाई।
अबरन बरन किछउ नहिं वाके, खद्ध अखद्धहिं खाई॥
गइया एक.....॥

ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, सिव सनाकादिक भाई।
सिध अनंत वाके खोज परे हैं, गइया किनहूँ न पाई॥
गइया एक.....॥

कहत कबीर सुनो हो संतो, जे ये पद अरथावै।
जो यह पद को गाय बिचारे, आगे होइ निरवाहै॥
गइया एक.....॥

(बीजक, सबद, 28)

इस पद में सन्त कबीर ने बताया कि विधाता ने सबको गाय प्रदान किया है; किन्तु व्यवहार जगत् में ऐसा देखने में नहीं आता। वस्तुतः यह एक कूटपद है। कूटपद उसे कहते हैं जिसमें कोई सन्देश छिपाकर कहा जाता है जिससे केवल अधिकारी ही उसे समझ सकें, अनधिकारी उस ज्ञान का दुरुपयोग न कर सकें। गाय और उसके पर्याय गो, सुरभि, धेनु इत्यादि शब्दों का ऐसा ही प्रयोग गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस के गोरक्षा प्रसंग में है। सन्दर्भ के लिए संक्षेप में यहाँ भी प्रस्तुत है–

मानस में सत्तर बार गाय और उसके पर्यायों का प्रयोग है जिसमें सत्रह बार गाय उदाहरण है, तेरह बार यह वस्तु के लिए है और चालीस बार 'गो' शब्द इन्द्रियों का सम्बोधन है जिसके लिए भगवान का अवतार होता है। उदाहरण के रूप में इस शब्द का प्रयोग देखें–

अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥

(मानस, 3/28/6)

जब सीता चोरी चली गयीं, मानसकार कहते हैं– वह अधम निशाचर सीता को उसी प्रकार ले जा रहा था जैसे किसी कसाई के बस में कपिला गाय हो। यहाँ गाय एक उदाहरण है। इसी प्रकार–

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

(मानस, 1/10ख)

श्याम रंग की सुरभि यद्यपि काली है किन्तु उसका दूध श्वेत और गुणकारी होता है इसलिए सभी उसका सेवन करते हैं; ठीक इसी प्रकार हमारी कविता भी ग्रामीण भाषा में है किन्तु इसमें सीता और रामजी का पवित्र यश है इसलिए सभी इसका अवश्य ही आदर करेंगे। यहाँ गाय से कविता की तुलना की गयी; 'गो' शब्द एक उदाहरण है। वस्तु के रूप में गाय का उदाहरण देखें–

जब भरत ने पिता की अन्त्येष्टि की तो,

भये बिसुद्ध दिये सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

(मानस, 2/169/6)

भरतजी ने दान की वस्तुओं में गाय दिया, घोड़ा दिया, हाथी दिया, पालकी-रथ इत्यादि नाना वाहन दान में दिया अर्थात् यह लेन-देन की वस्तु है। जो स्थान गज का है, वाहन का है, वही गाय का भी है। इसी प्रकार रामजन्म के समय–

नन्दीमुख सराध करि, जात करम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥

(मानस, 1/193)

[पुत्रजन्म से विवाहपर्यन्त के अवसरों पर नान्दीमुख पितरों का दधि और घृत मिले भोजन-पिण्डों से पूजन किया जाता है। इन पितरों में माता-पितामही-प्रणितामही, पिता-पितामह-प्रपितामह तथा नाना-परनाना और बड़े परनाना, जो भी दिवंगत हों, आते हैं। नान्दी का शाब्दिक अर्थ है समृद्धि। इन पितरों से समृद्धि का आशीर्वाद माँगा जाता है। कुछ लोगों के अनुसार नान्दीमुख नाम इसलिए पड़ा कि पितर इन अवसरों पर पिण्ड लेने के लिए नाँद की भाँति अपना मुँह फैलाये रहते हैं। इस मांगलिक श्राद्ध में काले तिलों और स्वधा का प्रयोग नहीं होता।]

गोस्वामीजी के अनुसार पुत्र-जन्म से अवसर पर महाराजा दशरथ ने नान्दीमुख श्राद्ध के उपरान्त जातकर्म कर विप्रों को हाटक माने सोना, धेनु,

वस्त्र, मणियाँ इत्यादि दिया। यहाँ जो स्थान मणि का है, वस्त्र का है, वही स्थान गो का है। यह सब देने-लेने की वस्तु अर्थात् एक सम्पत्ति है।

जब महर्षि विश्वामित्र दशरथ जी से राम-लक्ष्मण को माँगने आये तो उन्होंने कहा– भगवन्!

मागहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आज सहरोसा।।

(मानस, 1/207/3)

आप धरती माँग लें, धेनु माँग लें, धन अर्थात् पूरा खजाना माँग लें, मैं सबकुछ सहर्ष देने को तैयार हूँ। यहाँ पर भी गाय, धरती, धन, खजाना सब लेने-देने की वस्तु है। गाय वस्तु के रूप में है।

अब उन पंक्तियों पर विचार करें जिनमें गो इन्द्रियों का सम्बोधन है जिसके लिए प्रभु का अवतरण होता है। देवतागण स्तुति करते हैं–

जय जय सुरनायक जय सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिन्धुसुता प्रियकंता।।

(मानस, 1/185 छन्द)

देवताओं के नायक की जय हो! सारे सुखों को देनेवाले प्रभो! आप गो और द्विज के हितैषी हैं, सिन्धुसुता लक्ष्मी के स्वामी हैं।

अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा।

(मानस, 1/185 छन्द)

आप अविज्ञेय, गो से अतीत, माया से रहित और मुक्तिदाता हैं। इस एक ही स्तुति में राम गो के हितैषी हैं और गो से अतीत भी हैं। विचारणीय है कि गो क्या है जिसमें संसार उलझा है और राम उससे अतीत हैं? इसी प्रकार **'अनवद्य अखंड न गोचर गो।'** *(मानस, 6/110/15)*– भगवान दोषरहित हैं, अखण्ड हैं, वह गो नहीं है, गोचर भी नहीं है। गोचर अर्थात् इन्द्रियों का विषय यह संसार, जहाँ इन्द्रियाँ अपनी करनी के कारण बार-बार जन्म लेती हैं, अपना भोग ढूँढ़ती हैं, सृष्टि में विविध प्रकार के भोग भोगती

हैं। सृष्टि विधाता का गोचर है। यहाँ गो इन्द्रियों का सम्बोधन है। इन्हीं इन्द्रियों का संयम करके महापुरुष ध्यान में प्रभु को पाते हैं।

जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।

(मानस, 4/9 छन्द)

पवन को जीतकर, गो को निरसकर मुनि ध्यान में प्रभु को पाते हैं। गो को कैसे निरस करें? क्या गाय का दूध सुखा दें अथवा उसका रक्त सुखा कर अस्थिपंजर बना दें? क्या इस प्रकार भगवान ध्यान में आयेंगे? ऐसी बात नहीं है। यहाँ गाय से कुछ लेना-देना नहीं है। पहले आप श्वास को जीतें, श्वास में विचरनेवाली वायु को सम करें। इसके साथ ही आपको गो-संयम करना है, इन्द्रियों को विषय-रस से अलग करना है। जिस क्षण ये इन्द्रियाँ विषय-रस से अलग होंगी, तत्क्षण भगवान ध्यान में उतर आयेंगे। यह अभ्यास लम्बा है, इसीलिए **'मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'**–कभी ध्यान में सफलता पाते हैं।

महर्षि वशिष्ठ के पास नन्दिनी थी और देवताओं के पास कामधेनु थी। वस्तुतः ऋषियों के पास नन्दिनी होती है। जहाँ इन्द्रियाँ भली प्रकार संयत हुईं, ध्यान में प्रभु उतर आयें तो यही इन्द्रियाँ आनन्द प्रदान करनेवाली होती हैं। **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** *(मानस, 7/113/4)* उनके मन में इच्छा होते ही भगवान वैसी व्यवस्था देते रहते हैं, कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। एक कथानक में इसी तथ्य का निरूपण किया गया है।

विश्वरथ नामक सम्राट महर्षि वशिष्ठ के यहाँ आये। महर्षि ने उन्हें आतिथ्य प्रदान किया। जो आह्लाद राजभवन में नहीं मिला था, वह सब ऋषि के आश्रम में मिल गया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि इतना अच्छा प्रबन्ध कैसे हुआ? क्या अच्छी खेती होती है? कोई बड़ा व्यवसाय है या कोई राजकीय अनुदान? महर्षि ने बताया– ''ऐसा कुछ भी नहीं है। यह सब नन्दिनी की कृपा है।'' सम्राट ने कहा– ''तब तो नन्दिनी विलक्षण रत्न है। इसे तो

राजाओं के पास होना चाहिए।'' महर्षि ने कहा– ''ऐसा सम्भव नहीं है। यह तो तपस्या का फल है।'' राजा ने कहा– ''कुछ नहीं! इसे घसीटकर ले चलो।'' सैनिकों ने बड़ा बल लगाया, फिर भी वह नन्दिनी को नहीं प्राप्त कर सके। राजा ने तपस्या की, अस्त्र-शस्त्र अर्जित किया, विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध हुए फिर भी नन्दिनी को प्राप्त करने में सफल नहीं हुए। उन्होंने निश्चय किया कि क्षात्र-बल को धिक्कार है, ब्रह्मतेज ही सर्वोपरि बल है, अतः अब मैं ब्रह्मर्षि बनूँगा। वह भजन में लग गये, ब्रह्मर्षि भी हो गये और नन्दिनी भी पा गये। यह गाय नामक किसी पशु के लिए संघर्ष नहीं बल्कि इन्द्रियों के संयम का प्रतिपादन है।

इसी प्रकार जब दैवी सम्पद् हृदय में भली प्रकार ढल जाती है, जो परमदेव परमात्मा का देवत्व अर्जित कराती है, उस समय यही इन्द्रियाँ कामधेनु बन जाती हैं, मनचाहा भोग प्रदान करने लगती हैं। हाथी-घोड़ा इत्यादि कुछ भी कामना आयी, वह सब पहले से ही तैयार मिलती है। यदि कामधेनु किसी प्रकार की गायसंज्ञक पशु होती तो वह केवल दूध देती; ये वस्तुएँ कहाँ से देती? वस्तुतः जब दैवी सम्पद् के गुण हृदय-देश में भली प्रकार सध जाते हैं, उस समय परमदेव परमात्मा का देवत्व उतर आया करता है। उस समय यही इन्द्रियाँ समस्त कामनाओं की पूर्ति स्वतः करने लग जाती हैं। आप संकल्प बाद में करेंगे, वस्तु पहले ही उपलब्ध रहेगी। इस प्रकार वैदिक ऋषियों से लेकर आद्योपान्त गो-शब्द इन्द्रियों का सम्बोधन रहा है। गो-सम्बन्धी अनेकानेक कथायें इसी गोरक्षा पर बल देती हैं।

कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के उपनिषद् का आख्यान है कि गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि विश्वजित नामक यज्ञ में अपना सारा धन दान में दे रहे थे। उन्हें नचिकेता नामक एक पुत्र था। ऋषियों के शिष्य भी गुरुपुत्र ही कहलाते हैं (देखें, गुरुगीता, 243-244)। उसने दान के लिए लायी जा रही लाखों कृशकाय गायों को देखा जो अन्तिम बार जल पी चुकी थीं, अन्तिम तृण चुन चुकी थीं, अन्तिम बार जिनका दूध दुह लिया गया, जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी थीं। इन मरणासन्न अनुपयोगी

दयनीय गायों को दान के नाम पर दिया जाता देख उसने पिता से कहा– मैं भी तो आपका धन हूँ, मुझे आप किसे देंगे? कई बार उसे ऐसा कहते हुए देख ऋषि को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा– तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ। नचिकेता यमराज के पास गया। यमराज ने उसे विशाल भोगों का प्रलोभन दिया किन्तु उसने कहा– भगवन्! यदि आपकी मुझ पर सौम्य दृष्टि पड़ ही गयी है तो मुझे आत्मज्ञान प्रदान करें। सैकड़ों वर्षों की आयुवाले पुत्र-पौत्रों, हाथी-घोड़ों, सुवर्ण और विशाल साम्राज्य के प्रलोभनों से भी विचलित न होने पर स्वर्ग के दैवी भोगों से भी आकर्षित न हो वह अपने निश्चय पर अटल रहा, तब यमराज धर्म ने उसे वह आत्मज्ञान दिया जिसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

वास्तव में उद्दालक का अर्थ है अभ्युदय की ओर गमन करना, सहज प्रकाशस्वरूप परमात्मा की ओर गमन करना। प्रभु के स्वरूप की ओर बढ़ते-बढ़ते सहज प्रकाश की स्थिति आ जाती है–

न तद्भासते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ *(गीता, 15/6)*

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! उस सहजस्वरूप को न अग्नि, न सूर्य और न चन्द्रमा ही प्रकाशित कर सकता है। वह परमात्मा स्वयं ही प्रकाशस्वरूप है। जब अभ्युदय वहाँ तक हुआ, ये इन्द्रियाँ जो गणना में दस हैं किन्तु इनकी प्रवृत्तियाँ लाखों हैं, अनन्त हैं; इनकी लाखों विषयोन्मुख प्रवृत्तियाँ सिमटकर शान्त सम खड़ी हो जाती हैं। वह अन्तिम तृण ले चुकी हैं, अन्तिम भजन कर चुकी हैं, अन्तिम दूध दे चुकी हैं; जन्मान्तरों के संस्कारों के संग्रह का त्याग हो चुका, वे अन्तिम परिणाम दे चुकीं हैं। अब वे न शुभ परिणाम देंगी, न अशुभ। ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके क्रियाकलापों का न शुभ और न अशुभ ही संस्कार पड़ता है। जब गो इस कसौटी पर आ गयी तब उनका दान विप्र को दिया जाता है। तभी ब्रह्मस्थित महापुरुष, सद्गुरु के प्रति भली प्रकार समर्पण की स्थिति आ जाती है। उस समय यम अनुकूल हो जाते हैं, संयम सहज ढल जाता है। अहिंसा,

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये पाँच यम हैं। यम शब्द आज बदनाम हो चुका है। यम का अर्थ लोक में प्रचलित है– यमराज, जो मृत्यु देता है; किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। यम की अनुकूलता का अर्थ है सर्वांगीण संयम। जहाँ संयम सधा, साधक नचिकेता बन जाता है – न चित्त कर्ता – अर्थात् चित्त अकर्त्ता हो जाता है। चित्तवृत्तियों का ऐसा निरोध जिस क्षण हुआ, संयम पूर्ण हुआ तो इसके ओट में जो सत्ता है, उसी का नाम है परमात्मा। परमात्मा की वह प्रशक्ति जो न्याय करती है, वह है धर्म। भगवान पहले परीक्षा लेते हैं कि यह ले लो, वह ले लो, स्वर्ग लो, धन-वैभव-ऐश्वर्य लो किन्तु साधक की श्रद्धा जब लक्ष्य से चलायमान नहीं होती तब वह स्वयं साधक में दृष्टि बनकर खड़े हो जाते हैं और अपनी स्थिति का बोध करा देते हैं। इसी का नाम है आत्मदर्शन!

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न कोई भगवान को प्राप्त कर सका है और न ही भविष्य में कोई कर सकेगा; किन्तु कर्मों की पूर्ति में आत्मा जहाँ विदित हो गयी, साधक आत्मतृप्त हो गया, आत्मस्थित हो गया, उस पुरुष के लिए किञ्चित् भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता, कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु उसे अप्राप्त नहीं रह जाती। उसे कर्म करने से कोई लाभ नहीं और छोड़ देने से कोई हानि भी नहीं होती; फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए भली प्रकार कर्म में बरतते हैं (गीता, 3/22)। स्वयं के लिए उनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अस्तु, नचिकेता को जब आत्मदर्शन ही हो गया तो वह स्वरूपस्थ हो गया, उसे किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं रही। इस प्रकार नचिकेतोपाख्यान एक आध्यात्मिक रूपक है। यह संयम के साथ साधना पर बल देने का कथानक है न कि पशु-योनि की 'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः'– लाखों गायों का दान हो रहा था *(कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम वल्ली, तृतीय मंत्र)*।

जर्मनी के अनेक विद्यानुरागियों ने भारतीय वेदों पर गहन मनन-चिन्तन किया है। कहा जाता है कि एक विद्वान् को ऐसा एक मंत्र मिला

जिसमें है कि गाय जब पृथ्वी से ऊपर उठ जाती है तो आकाश में खो जाती है, लौटकर पृथ्वी पर नहीं आती। वह दार्शनिक महीनों बन्द कमरे में इस पर विचार करता रहा और अन्त में निर्णय दिया कि भारत में गो नामक कोई पक्षी होता है। वह यदा-कदा उड़ जाता है तो पुनः लौटकर नहीं आता। क्या भारत में ऐसा कोई पक्षी है? बौद्धिक धरातल पर निर्णय लेनेवाले ऐसा ही आशय निकालेंगे। वस्तुतः गो इन्द्रियों का सम्बोधन है। ये इन्द्रियाँ जब सिमटकर संयत हो जाती हैं, देहाध्यास से ऊपर उठ जाती हैं। आकाश कहते हैं पोल को, शून्य को। मनसहित इन्द्रियाँ जब संकल्प-विकल्प से रहित होने लगती हैं तो वे शनैः-शनैः आकाशवत् होती ही चली जाती हैं। वृत्तियाँ सर्वथा शान्त होने पर यह परमतत्त्व परमात्मा का दर्शन और उसमें प्रवेश पा जाती हैं और फिर लौटकर आवागमन में कभी नहीं आती हैं, इन्द्रियाँ पिण्डरूप में कभी आकार ग्रहण नहीं करतीं। उस समय गो पृथ्वी पर नहीं आतीं अर्थात् शरीररूपी पृथ्वी का आकार प्राप्त नहीं करतीं। वे भवबन्धन से मुक्त हो जाती हैं।

आज हमें कहना पड़ रहा है कि गो माने इन्द्रियाँ; किन्तु वैदिककाल में गो शब्द जहाँ मुख से निकलता था, लोग समझ जाते थे कि हाथ-पाँव, नाक-कान इन्हीं की ओर इंगित किया जा रहा है। कालान्तर में भाषाएँ और शब्दों के निहितार्थ बदल गये किन्तु वैदिककाल से आज तक जितने महापुरुष हुए, उन सबकी दृष्टि में गाय केवल इन्द्रियों का सम्बोधन रहा है। इन इन्द्रियों का संयम हम-आप अपने बल पर कर भी तो नहीं पाते; क्योंकि हमारे पास है क्या?

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(मानस, 3/14/3)

इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, बुद्धि निर्णय ले सकती है–'**सो सब माया जानेहु भाई।**'–वह माया है, मायिक क्षेत्र का ही छोटा-बड़ा निर्णय है, सत्य कदापि नहीं। मनुष्य के पास इन्द्रियाँ और मन छोड़कर और है ही क्या? इनसे हम कुछ भी निर्णय लें,

वह माया है। ऐसी परिस्थिति में हम सत्य को, परमात्मा को कैसे जानें? उसके लिए एक ही तरीका है कि हमारा संयम ऐसा हो कि प्रभु उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ, हमारा मार्गदर्शन करने लगे। उनके संरक्षण में चलकर पुरुष उन परमात्मा तक की दूरी तय कर पाता है। इसीलिए अवतार गो के लिए होता है। अवतार लेकर भगवान इन्द्रियों को दिशा देते हैं कि तुम यह करो और यह न करो। अपने बल पर, बौद्धिक स्तर से कोई कुछ जान भी नहीं सकता। यही कारण है कि इस पथ में लौकिक शिक्षा-दीक्षा का बहुत उपयोग नहीं है। शबरी पढ़ी-लिखी नहीं थी। वाल्मीकि भी अनपढ़ थे। संत कबीर भी पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु यह सभी अभ्यासी थे। उन्होंने आँखों देखा हाल कहा है। इस पद में इन्द्रिय-समूह को उन्होंने गाय की संज्ञा दी।

कबीर का दृष्टिकोण वही है जो वैदिक ऋषियों से अद्यावधि महापुरुषों का रहा है। वह कहते हैं कि **'गइया एक बिरंचि दियो है।'**–विधाता ने सबको एक गाय प्रदान कर दिया है। कैसी है यह गाय? सभी गायें पाँव से चलती हैं लेकिन यह गाय आपके शिर पर लदी है। **'गइया के भार अभार भौ भारी।'**–गाय इतनी वजनी कि अभार है, असह्य है बोझ उसका। उसका भार है कितना? **'भौ भारी'**–पूरे संसार का भार इस गाय का भार है। गो का भार इतना भयंकर है कि जो भी इन्द्रियों के दायरे में जीवनयापन कर रहा है, त्राहि-त्राहि कर रहा है–

राजा रंग सभी दुनिया के, छोटे बड़े मजूर।
हरिश्चन्द हरि भजन बिनु, अन्त धूरि के धूर॥

* * *

राजा दुखिया परजा दुखिया, साधू के दुख दूना।
आसा तृष्ना सब घट व्यापी, कोइ महल न सूना॥

किसी ने कुछ प्राप्त कर लिया, तब भी इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, चौगुनी भड़क जाती हैं। इसलिए व्यक्ति उत्तरोत्तर वस्तु ढूँढ़ता ही रहता है। वह एक

पग आगे बढ़ गया, थोड़ी सन्तुष्टि हुई; और जो उसका स्तर है, उससे एक कदम नीचे हो गया तो त्राहि-त्राहि करने लग जाता है, ब्लड प्रेशर हाई हो जाता है, सब दुर्दशा हो जाती है। इच्छा इन्हीं इन्द्रियों का, गो का दबाव है। यह गाय खाती क्या है? पीती क्या है? इस पर कहते हैं–

नौ नारी का पानी पियत है, तृषा तेऊ न बुताई।

'नवद्वारे पुरे देही' *(गीता, 5/13)*– यह नौ दरवाजोंवाला शरीर है। इन नवों इन्द्रियों से रात-दिन विषयरस का स्राव होता रहता है। यह विषयरस पीती रहती हैं लेकिन इच्छातृप्त कभी नहीं हुई। रावण को पूरा विश्व एक साथ मिल गया था–**'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी॥'** *(मानस, 1/181/12)*–फिर भी उसे एक औरत की कमी रह ही गयी। इतनी इच्छा अधूरी लेकर वह मर गया; क्योंकि एक प्राप्ति आगे अनन्त इच्छाओं को जन्म देती है। इसका कभी अन्त नहीं है। फिर भी इस गइया को महापुरुषों ने ढूँढ़ निकाला। इसके लिए,

कोठा बहत्तर औ लौ लाये, वज्र किवाड़ लगाई।

कोठा माने कमरा! हृदय एक कक्ष है। यह बहुत गन्दा है, मल-आवरण-विक्षेप से भरा है। इसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की रीलें पड़ी हुई हैं। न जाने अगली रील कैसी और किस योनि में फेंक दे; अतः इसकी सफाई कर इसे बेहतर अर्थात् अति उत्तम समेटकर, इन्द्रियों की प्रवृत्ति को समेटकर हृदय के अन्दर लौ लगा दिया। द्वार को दृढ़ता से बन्द कर दिया, फिर भी यह टिकी नहीं। तब **'खूँटा गाड़ि दवरि दिढ़ बाँधे'**। खूँटा गड़ी वस्तु का नाम है जो स्थिर रहता है। स्वाँस ही खूँटा है। सन्त कबीर ने साखी में कहा–

चलती चकिया देखि के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

कबीर के एक प्रिय शिष्य थे कमाल! उन्होंने कहा– नहीं गुरु महाराज! साबित बचने का भी तरीका है–

चलती चकिया देखि के, हँसा कमाल ठठाय।
कील सहारे जो रहा, ताहि काल न खाय॥

कीली है श्वास। श्वास के सहारे यदि कोई लग जाय, मन को सब ओर से समेटकर श्वास में सुरत लगा दे तो उसे काल नहीं खायेगा। यह श्वास ही खूँटा है। श्वास चलायमान है। इसमें भली-बुरी तरंगें उठा करती हैं। पहले इस खूँटे को गाड़ो, श्वास स्थिर करो, निरोध करो और सुरत की डोरी से श्वास में मन को बाँध दो। इसे बाँधने में आपको दिन-रात प्रयत्न करना पड़ेगा। **'दवरि दृढ़ बाँधो'**– रात-दिन दौड़ लगाओ और बाँधो।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लौ लाय।
सुरति डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय॥

जब तक जागो, सुमिरन करो। सोओ तो लौ लगाकर सोओ। सोकर उठो तो सुरत वहीं लगी मिले। **'आठ पहर लागा रहे, तार टूट न जाय।'**– अहर्निश श्रम करो। यही है दौड़ लगाना। श्वास में इसे दृढ़ता से बाँधा; **'तइयो तोरि पराई'**–तब भी किसी-न-किसी बहाने से यह तुड़ाकर भाग ही जाती है। साधक समझता है कि श्वास स्थिर है, तब तक पुनर्जन्म का कोई संस्कार आकर धक्का देता है – गाय भाग खड़ी हुई। कभी किसी भक्त ने गहरा दुःख बताया तो महापुरुष लोग भी दो मिनट के लिए चौंक जाते हैं, सुरत बहक जाती है।

पुराणों में एक कथा आती है। भोलेनाथ ध्यानस्थ थे। पार्वती ने निरीक्षण किया कि भोलेनाथ हैं नहीं, शरीर बैठा है। प्रभु गये कहाँ? उन्होंने ध्यान लगाकर देखा कि वह आकाश में मृत्युलोक की स्त्रियों के साथ दौड़-धूप कर रहे हैं। पार्वती जी क्रुद्ध होकर आकाश में गयीं, उन औरतों को तलवार से काट गिराया और भोलेनाथ को पुनः उनके आसन पर ला दिया। यह कथा भी एक रूपक ही है। 'शंका अरिः स शंकर।' शंकाओं से उपराम होकर कोई ध्यान में लगता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि शरीर तो बैठा है, शान्त है, जग भी रहे हैं किन्तु सुरत भाग जाती है। वह किसी विकार को

लेकर चिदाकाश में, शून्य में नक्शे बनाने लगती है, मरणधर्मा वृत्तियों के साथ तालमेल बिठाने लगती है। प्रेम ही पार्वती है। वृत्ति में प्रेम का प्रादुर्भाव है तो तुरन्त निरीक्षण होगा कि शरीर तो बैठा है, सुरत गायब है। त्याग की तलवार से प्रेम की वृत्ति उन कुप्रवृत्तियों को, जिनसे संयोग है, काटकर सुरत को पुनः ध्यान में स्थिर करती है। जहाँ-जहाँ सुरत जाती है, वहाँ-वहाँ से उसे लाकर ध्यान में स्थिर करना पड़ता है। इसी का नाम अभ्यास है। **'खूँटा गाड़ि दवरि दिढ़ बाँध्यो, तइयो तोरि पराई।'** यह तुड़ाती किन माध्यमों से है? सन्त कबीर कहते हैं– पहले तो यह सांसारिक दृश्यों से विचलित होती है और यदि भजन पकड़ में आ गया, कुछ बोलने की क्षमता आयी तो बहकने लगती है कि शास्त्र में तो ऐसा लिखा है–

चार वृक्ष छः शाखा वाके, पत्र अठारह भाई॥

चार वेद, छः शास्त्र और अठारहों पुराण! **'एतिक ले गम कीन्हिसि गइया'**–इन सबको लेकर गाय भाग गयी। लोग कहने लगते हैं– मेरे जैसा विद्वान् और कौन है! अब मैं वेदवाक्यों से ही चर्चा करूँगा। इतना लेकर गाय अहं में आ गयी। गयी तो थी भगवान को ढूँढ़ने, पोथा लेकर ऐंड़ गयी, उतने से ही सन्तुष्ट हो गयी इसलिए **'गइया अति रे हरहाई'**। हरहाई गाय उसे कहते हैं जो मार्ग छोड़कर बिना मार्ग के ही इधर-उधर दौड़े। जब भजन सही होता है तब भी मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ – यह भी इधर-उधर भागना हुआ। साधक को चाहिए कि जब तक प्रभु न मिल जायँ, लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य विषयों में न उलझे। अब इस गइया के विचरण का स्थान बताते हैं और यह खाती क्या है?–

ई सातों औरों हैं सातों, नौ अरु चौदह भाई।

शास्त्रों में आता है सात पतन के लोक हैं– तल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। गाय यहाँ तक तो नीचे जाती है, अधोगति प्रदान करती है और सात ही उत्थान के रास्ते हैं जिन्हें योगपथ की सात भूमिकाएँ कहा जाता है– शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति,

असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा। ईश्वर की ओर अग्रसर होने में पहले शुभ के लिए प्रबल इच्छा का उदय होता है, फिर सुविचार! जहाँ विचार स्थिर हुआ तो तनुमानसी। अब तक तो हम शरीर में तनवाले थे, अब मन में शरीरवाले हो गये। 'सत्त्वापत्ति' अर्थात् नित्य सत्व परमात्मा का पक्ष सुदृढ़ हो गया। इसके उपरान्त असंसक्ति – सबसे उदासीन, निर्लेप रहना। भजन संसार में रहकर करना होता है। संग तो गली-गली में, कदम-कदम पर है। संग आवे किन्तु उनसे असंग रहने की क्षमता आ जाय। 'पदार्थभावना'–संसार पदार्थ है, इन्द्रियों का खाद्य पदार्थ। इस संसार का अभाव हो जाय, खो जाय। ऐसा स्तर आता है कि **'सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'** *(मानस, 1/7/2)*– जहाँ माया दिखाई देती थी, वहाँ भगवान का संचार दिखाई देने लगता है। पदार्थ का अभाव हो जाता है, दृष्टि अन्यत्र जायेगी भी तो कहाँ जायेगी! **'निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।'** *(मानस, 7/112ख)*– जहाँ भी दृष्टि पड़ी, अपने आराध्यदेव को खड़ा पाया। अब भोग ढूँढ़े तो कहाँ ढूँढ़ें? इस अवस्था का नाम पदार्थभावना है जिसका आशय है संसार के भोग पदार्थों का अभाव और ईश्वरीय तेज का संचार। इसके पश्चात् अन्तिम भूमिका तुर्यगा है। मन एक तुरंग है। इस पर जीवात्मा असवार है। पहले मन हमें भटकाता था, अब हम जिधर चाहें, इसे उधर लगा सकते हैं। योग की इन सात भूमिकाओं को पार कर लेने पर भगवत्ता है। इस पर कबीर बल देते हैं कि नीचे-ऊपर के ये सात-सात आयाम गो का ही क्षेत्रफल हैं। सातों पतन के लोकों में गइया ही विचरति है। **'औरों है सातों'**–ऊध्वरेता स्थिति की सात भूमिकाओं में भी वही है। **'नौ औ चौदह भाई'**– पृथ्वी के नौ खण्ड और विधाता के चौदहों भुवन। **'एतिक लै गइया खाय बढ़ायो'**–एक गाय का यह सब भोजन है। समस्त लोकों का भ्रमण कर आयी हैं इन्द्रियाँ – यह गाय। इन सबका उपयोग इसने किया है। **'गइया तऊ न अघाई'**–यह गाय तब भी तृप्त नहीं हुई। कागभुसुण्डि कहते हैं–

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।
देखेउँ करि सब करम गोसाँई। सुखी न भयउँ अबहि की नाईं।।

(मानस, 7/95/8-9)

देव-दानव, ऊँच-नीच, ब्रह्मपर्यन्त दूरी हमने तय किया है। सब योनियों में मैं भटका लेकिन इस योनि में मैं जितना सुखी हूँ, ऐसा किसी अन्य योनि में नहीं हुआ। क्यों?–

राम भगति एहिं तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी।।

(मानस, 7/95/4)

इस कौवे के शरीर में राम की भक्ति मुझे प्राप्त हुई है इसलिए यह मुझे प्रिय ही नहीं, परमप्रिय है। अतः विधाता की समस्त सृष्टि को इस गइया ने खाया है, हर योनि का इसे अभ्यास है। सबको खा-खाकर इसने समाप्त कर दिया लेकिन इसका पेट कभी नहीं भरा। यह गाय है बड़ी खतरनाक! इस गाय का स्वभाव कैसा है? इसका प्रीतिकारक घर कौन-सा है?

पुरता में राती है गइया, सेत सगी है भाई।

पुरता तीन पुर हैं। इसी त्रिगुणमयी प्रकृति में यह गाय अनुरक्त रहती है। इन्द्रियाँ भोग चाहती हैं। यह सदैव सुख चाहती हैं, भगवान को कभी नहीं चाहतीं, इसलिए केवल इस माया नगरी में ही अनुरक्त रहती हैं यह गाय। और **'सेंत सगी है भाई'**–यह झूठ-मूठ की बिना पैसे की सगी रिश्तेदार बनी हुई है। इस मनसमेत इन्द्रियों के भोगों की व्यवस्था जहाँ-जहाँ बन जाती है, वहाँ-वहाँ से सम्बन्ध जुड़ जाता है। लेकिन ये सारे रिश्ते-नाते झूठे हैं। जहाँ श्वास की डोरी टूटी तो **'सोइ पुर पाटन सोइ गली बहुरि न देखा आइ।'**– ये व्यर्थ के रिश्ते यहीं छूट जाते हैं। यदि ये सच होते, कोई तो साथ चलता। इन्द्रियाँ सेंत अर्थात् मुफ्त की रिश्तेदार हैं। यदि इनकी मर्यादा पर विचार करें, वह भी इसके पास नहीं है–

अबरन बरन किछउ नहिं वाके, खद्ध अखद्धहिं खाई।।

इसका कोई शुद्ध वर्ण नहीं है, न इसके लिए कोई आवरण है। यह जिस योनि में गयी, वही भोजन किया और वही उसका स्वभाव हो गया। ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत चक्रवर्ती सम्राट थे। चक्रवर्ती होने का इतना नशा था कि कहा– महामंत्रि! इस महेन्द्र पर्वत की शुभ्र शिलाओं में मेरा यशोगान अंकित करा दो। मंत्री ने लौटकर निवेदन किया– राजन्! एक भी शिला ऐसी नहीं है जिस पर किसी-न-किसी राजा की प्रशस्ति अंकित न हो। आज्ञा हो तो उनका नाम मिटाकर आपकी यशोगाथा उत्कीर्ण करा दूँ। सम्राट को आश्चर्य हुआ। वह स्वयं पर्वत शिखर पर गये और देखा, एक से बढ़कर एक राजा-महाराजाओं का यशोगान अंकित है कि इन महाराजाधिराज ने इन्द्र का कान पकड़कर झटक दिया और स्वयं इन्द्रासन सुशोभित करते रहे। भरत ने पाया कि यह यशोगाथा भी एक भ्रम है। जिनका यशोगान अंकित है, वे नरेश किंवदन्तियों में नहीं हैं, इतिहास उन्हें जानता तक नहीं। इन मूल शिलाओं पर कुछ लिखा अवश्य है। उन्हें तत्काल वैराग्य हो गया। वह एक महापुरुष की वंशलता के अन्तर्गत भी थे, वैराग्य के संस्कार थे ही, दिगम्बर वेष में रहने लगे।

साधन करते-करते भरत की निवृत्ति हो चली थी, किन्तु जब परीक्षा की घड़ी आयी तो जंगल में शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। एक आसन्नप्रसवा मृगी भयवश छलाँग लगाकर भागी। उसका बच्चा कुटिया के ठीक सामने ही पैदा हो गया। वह शावक मुनि के सामने घूमने लगा। भरत को दया आ गयी, उसे पाल लिया। वह बड़ा सुहावना था। जब वह थोड़ा युवा हुआ, छलाँग लगाकर जंगल में ओझल हो गया। भरत चिन्तित हो उठे। अभी तो शावक अबोध है, वह तो चीते का भी मुख सूँघ लेगा। वह बहेलिये के पास भी चला जायेगा। वह अभी तक लौटा क्यों नहीं? कहीं उसे शेर न खा गया हो। वह इन्हीं बातों में तन्मय थे कि उनका अन्तिम क्षण आ गया। अन्तिम क्षण में भी यही सोचते-सोचते उनका देहावसान हो गया। उन्हें अगला जन्म मृग का मिला। मृगयोनि में भी उन्हें ज्ञान था कि मैं भरतमुनि हूँ, एक आसक्ति के कारण मैं चौपाया बन गया हूँ। उन्होंने हठ करके शरीर का त्याग कर दिया।

एक विप्र के घर उन्होंने जन्म लिया। वहाँ भी उनका नाम भरत ही पड़ा। निवृत्ति के समीप पहुँचे, महापुरुष को जब इन योनियों में आना पड़ता है तो हम-आप इतर योनियों में गये हों तो आश्चर्य ही क्या है? या जाना ही पड़े तो कौन-सी बात है? उस योनि में मालपुआ तो मिलेगा नहीं, बेड-टी भी नहीं मिलेगा। कदाचित् गिद्ध बन गये तब तो सड़ा-गला मांस ही मिलेगा। अतः गो इन इन्द्रिय समुदाय का न तो वरण है, न आवरण। आज आपके लिए जो अखाद्य है, दूसरे जन्मों में वही आपका भोजन है। कोई सुअर हो गया तो प्रातः होते ही मैले में जाकर डट गये। आज हम-आप जिससे नाक-भौं सिकोड़ते हैं, किसी जन्म में वही पौष्टिक पदार्थ है। सुअर का शरीर तो देखें, चर्बी झुलने लगती है, सुअर के लिए वही पौष्टिक पदार्थ है। इसलिए इन इन्द्रिय समुदायों का न कोई उत्तम वर्ण है, न अवर्ण! यह खाद्य-अखाद्य सभी कुछ खाती रहती हैं।

ब्रह्मा विष्णु खोजि लै आये, शिव सनकादिक भाई।

ब्रह्मा और विष्णु! बुद्धि ही ब्रह्मा है, चित्त विष्णु है। जब तक साधना में बुद्धि और चित्त का भान है, तब तक ही इन्द्रियों का अस्तित्व है। इससे ऊपर स्वरूप में स्थिति, सनकादिक की बालवत् रहनी में साधक प्रभु के हाथ का यंत्र मात्र रह जाता है। इन्द्रियों का अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उस समय यह गाय विलीन हो जाती है। **'सिद्ध अनन्त वाके खोज पड़े हैं'**–अनन्त सिद्ध अनादिकाल से इसी गइया की खोज के लिए निकले किन्तु **'गइया किनहूँ न पाई'**–आज तक इसे कोई देख नहीं पाया, पकड़ नहीं सका; क्योंकि साधना की पूर्तिकाल में जहाँ इन्द्रियाँ संयत हुईं और जब सर्वदा निरुद्ध हुईं तो मिट गयीं। कबीर की साखी है– **'जप मरे अजपा मरे'**– इन्द्रियों को संयत करने के लिए प्रमुख साधन है – नाम-जप! किन्तु जप की भी कई श्रेणियाँ हैं। जप अनिवार्य है लेकिन यह जप भी मर जाता है। कब? जब अजपा जागृत हो जाय। अजपा मरे कब? जब अनहद की पकड़ आ जाय। **'अनहदहूँ मरि जाय'**–एक स्तर आता है कि अनहद की भी आवश्यकता नहीं रह जाती; किन्तु कब? जब **'सुरत समानी सबद में,**

ताहि काल न खाय।'– सुरत कहते हैं मन की दृष्टि को। जब श्वास में विचरनेवाले शब्द को सुनते-सुनते सुरत शब्द में समा गयी, शब्दमात्र शेष रह गया, '**ताहि काल न खाय**'–काल से अतीत अकाल पुरुष, परम सत्य वही शेष बच रहता है। भगवान को काल खा लेता होगा तो आपको भी खा लेगा। अतः सुरत के समाहित होते ही इन्द्रियों का आकार मिट जाता है, प्रकृति पुरुषोत्तम में विलीन हो जाती है। फिर तो,

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजुर्वेद)

सर्वत्र ईश्वर का ही वास है, लेशमात्र भी कहीं जगत् है ही नहीं। उस समय गो अपना स्वरूप खो देती है। कब? जब सुरत शब्द में समा जाती है। इसलिए ये सभी गइया को खोजने निकले अवश्य; किन्तु जब भली प्रकार संयम सधा, सुरत शब्द में समाहित हो गयी तो गइया भी उसी में विलीन हो गयी इसीलिए '**गइया किनहूँ न पाई**'– किसी ने प्राप्त नहीं किया। उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब उसके समीप पहुँचे तो वह भगवान की भगवत्ता में विलीन हो गयी। इसके विलीन होने में ही मुक्ति है।

मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सोई शाहन्शाह।।

मन मरा तो माया मर गयी; क्योंकि माया जिस धरातल पर प्रसारित होती थी वह मन था। जब वह धरातल ही मिट गया तो माया किस पर प्रसारित हो? तहाँ '**हंसा बेपरवाह**'–भक्त निश्चिन्त हो जाता है; क्योंकि '**जाको कछु न चाहिए सोई शाहन्शाह**'– यदि परमात्मा अलग होता तो उसकी चाह अवश्य होती। जब वह भी अलग नहीं रहा तो चाह करें भी तो किसकी? मन के मिटते ही माया मिट जाती है। पहले इन्द्रिय-समूह का दमन होता है, फिर मन का शमन होता है और निरुद्ध मन भी जहाँ विलीन हुआ तो इन्द्रियों और मन का आकार शान्त हो जाता है। तहाँ फिर परमतत्त्व परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हो जाता है इसलिए '**गइया तिनहू न पाई**'– अन्त

में यह गइया मिलती ही नहीं बल्कि मिट अवश्य जाती है। जब तक यह जीवित है, तब तक तो यह कष्ट देगी ही।

अंत में सन्त कबीर कहते हैं कि मोक्ष का रास्ता यही है कि आप इन्द्रिय-संयम करें–

कहत कबीर सुनो भाई संतो! जो यह पद अरथावै।

कबीर कहते हैं कि सन्तो! सुनो, ध्यान दो। वे जानते थे कि मैं जितने गोपनीय ढंग से इस रहस्य को प्रस्तुत कर रहा हूँ, सबमें उसे समझने की क्षमता नहीं हो सकती। इस मानव-समाज में जिनमें वह क्षमता है, वे हैं सन्त। कबीर की कक्षा के छात्र संत हैं। उन संतों को उद्देश्य बनाकर कबीर ने अपनी वाणी का प्रसारण किया। **'जो यह पद अरथावै'**– जो इस गाय की विशेषताओं को जान ले कि यह नौ नाली का पानी पी गयी, खूँटा गाड़ के कोठरी में बाँधा, वज्र की किवाड़ लगायी, तब भी यह भाग गयी। चराचर जगत् इसका भोजन है, फिर भी यह तृप्त नहीं हुई। ब्रह्मा, विष्णु, सिद्धजन खोजते रह गये, पाया किसी ने नहीं। **'जो यह पद अरथावै'**– जो उसे प्राप्त कर ले, जान ले, **'या पद की जो गाय विचारे'**–इस पद में वर्णित गाय पर जो विचार कर ले, **'आगे होई निरबाहै'**–वह आगे होकर सबका निर्वाह करता है। वह स्वयं सद्गुरु है, दूसरों को निवृत्ति प्रदान करने की उसमें क्षमता है। इस जगत् में जीने की कला वह जानता है और वही सिखा सकता है। वह सद्गुरु की स्थिति है।

महापुरुषों की दृष्टि में यावन्मात्र जगत् उनका अपना होता है। अतः वह कहते हैं– भाइयो! सुनो! एक ऐसी गइया है जो विधाता ने हम सबको दी है। गइया का वजन कितना? तो **'गइया भार अभार'**–उसका वजन असह्य है। कितना भार है? तो **'भौ भारी'**–सारा भव, आवागमन, जन्म-मृत्यु का चक्कर इस गो का ही वजन है। जो इसके आश्रित है वह तड़पता ही रहता है किन्तु उसे घूम-फिरकर प्यारा वही लगता है। इससे छुटकारा पाने के लिए जाये कहाँ? इसके लिए वह कहते हैं कि **'जो यह पद अरथावै'** वही **'आगे**

होइ निरबाहै'–आगे बढ़कर सबका निर्वाह कर सकता है, गो अतीत स्थिति दिला सकता है। एक अन्य साखी में कबीर ने इंगित किया है–

माता मारि परम पद पावे, पिता बधे सुख होय।
गो काटे बैकुण्ठ सिधावै, संत कहावै सोय॥

माता को जो मार देगा, वह परम पद को पा जायेगा। सुनने में बड़ा अटपटा लगता है और पिता को मार डालो तो सहज सुख पा जाओगे। यह क्या है? वस्तुतः ये यौगिक शब्द हैं, साधना के स्तर-विशेष को इंगित करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! यह त्रिगुणमयी प्रकृति गर्भ को धारण करनेवाली माता है और मैं ही परम चेतन बीजरूप से पिता हूँ। सांसारिक माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं। स्वयं परमात्मा ही बीजरूप से पिता और प्रकृति ही गर्भ को धारण करनेवाली माता है। अतः इस माता का जो दमन कर लेगा, वह परम पद प्राप्त कर लेगा। परम पद है आत्मा! प्रकृति के दमन के पश्चात् जो दिखायी पड़ेगा, वह है परम तत्त्व, शाश्वत तत्त्व, परम धाम। उन्हें जानकर वह वही हो जाता है। भगवान जीव को अपनाकर यदि अलग रख दें तो बेचारा जीव का जीव ही रह गया; किन्तु वे उसे अपनी विभूतियों से आप्लावित कर देते हैं, अपने स्वरूप में समाहित कर लेते हैं, अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। अतः

सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अंतर जैसे॥

एक गिलास जल का गंगा से स्पर्श करा दें। बतायें, अब गिलास भर जल रहा कि गंगा भर! गिलास की संज्ञा मिट जायेगी और गंगा की धारा का प्रवाह सबके सामने विदित होगा। ठीक इसी प्रकार ईश्वर का अंश है जीवात्मा। साधना के सही दौर में पड़कर इन्द्रिय-संयम की कसौटी पूर्ण होने पर जहाँ आत्मा विदित हुई, स्थिति मिली तो अंश समाप्त; अंशी ही शेष बच रहता है। जीव, जो गिलास के जल के रूप में था, खो गया। परमात्मा का ही प्रवाह शेष बचा। यही है '**जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**' जब वही स्थिति मिली तो परमात्मा भी भिन्न नहीं रह गया। यहाँ पिता भी अलग नहीं

है इसलिए **'पिता बधे सुख होय'**। उसके बाद वह भी शेष नहीं बचा जिसकी हम शोध करें। तहाँ **'सुख होय'**–जो शाश्वत सुख है, सहज सुख है, उसमें वह स्थित हो गया, वह वहाँ मिलता है।

इसी प्रकार **'गो काटे बैकुण्ठ सिधावै'**–गो माने मनसहित इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ जो दौड़-धूप कर रही हैं, उनकी दौड़ को रोको। इन्हें काटो। जिस क्षण इन्द्रियाँ भली प्रकार संयत हुईं, तब **'बैकुण्ठ सिधावै'**। कुण्ठ कहते हैं सीमा को; बैकुण्ठ कहते हैं असीम को, जिसकी सीमा निर्धारित न किया जा सके। इसी को बेहद, अनहद भी कहते हैं। जहाँ इन्द्रियों की भाग-दौड़ शान्त हुई; पहले भजन करने पर मन उच्चाटन कर जाता था क्योंकि इन्द्रियाँ किसी-न-किसी रस में खींचती हैं। जहाँ इन्द्रियाँ भली प्रकार संयत हुईं, इनकी भाग-दौड़ कट गयी, तहाँ **'बैकुण्ठ सिधावै'**–भजन माप-तौल से ऊपर उठ जाता है, धारावाही हो जाता है। सोते-जागते एकरस भजन! यह भजन की बैकुण्ठ, बेहद अवस्था है और जब तक इन्द्रियाँ खींचती रहेंगी, आप दो घण्टे भजन में बैठकर भी दस मिनट अपने पक्ष में नहीं पायेंगे। जिस मन को रुकना चाहिए, वह तो हवा से बातें करेगा। किन्तु भली प्रकार जहाँ संयम सधा तो आप जो समय देंगे, पूरा-का-पूरा आपके साथ है।

माना कि गाय नामक एक पशु भी हमारे पास है। हम उसके ऋणी भी हैं। सभ्यता के आरम्भ से लेकर आज तक इस गाय ने हमारा भरण-पोषण किया है। भगवान शिव ने पहली बार स्थिति पायी इसलिए उनका नाम ही पड़ गया पशुपतिनाथ। वह चलते थे बैल पर। क्या गजब की सवारी थी भोलेनाथ की! तब से इस गो-वंश का उपयोग इस ढंग से हुआ कि पूरे विश्व में खेती, अन्न का उपार्जन बैलों के ऊपर; उर्वरक गो-वंश के ऊपर। मक्खन, दूध, घी, दही – सृष्टि में इससे पौष्टिक आज भी कुछ नहीं है। डेनमार्क इत्यादि देशों में गायें 60 से 80 लीटर तक दूध देती हैं। गो-वंश से पानी खींचना, चर्म-उद्योग, सिंचाई भी उन्हीं पर और पूरे विश्व में व्यापार-सामग्री ढोयी जाती थी बैलों की पीठ पर। जो एक लाख बैल रखता था, बनजारा कहलाता था, वणिक सम्राट कहलाता था। इस प्रकार गाय ने मनुष्य को हर

तरीके से जिलाया है। भारत के दयालु साम्राज्य में गाय को माता का सम्मान दिया। आप माताजी की भरपूर सेवा करके मातृऋण से तो उरिन हो जायेंगे किन्तु मोक्ष नहीं होगा। मोक्ष तो माताजी और आपका– दोनों का हरि के सुमिरन से ही होगा, अन्य कोई तरीका है ही नहीं।

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिन पूँछ बिषान॥

राम, एक परमात्मा के भजन के बिना जो कल्याण चाहता है, वह बिना सींग-पूँछ का पशु है। उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं है। अंतर है तो केवल इतना कि उसे सींग और पूँछ नहीं है।

बारि मथे घृत होय बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल॥

पानी मथने से भले ही घी निकल आये, बालू पेरने से तेल निकल आये– यह असम्भव भी कदाचित् सम्भव हो जाय किन्तु बिना हरि के भजन के कोई भव-सिन्धु पार नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त अकाट्य है।

भगवान का एक नाम हरि है। वह जिस भक्त को अपनाते हैं, उसका शुभाशुभ सब हर लेते हैं, बदले में अपना स्वरूप प्रदान कर देते हैं। इसलिए परमात्मा का एक नाम हरि भी है। भव पार करने का अन्य कोई तरीका है ही नहीं। अतः यदि कोई कहता है– गाय की पूँछ पकड़ो, बैकुण्ठ जाओ; भूत पूजो, तंत्र ले लो, मंत्र ले लो – यह सब भावुकता मात्र है, परम्परा और रूढ़ि हो सकती है, गीतोक्त विधि कदापि नहीं।

गीता के अनुसार यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करने अर्थात् दैवी-सम्पद् को अर्जित करने, उसे बलवती बनाने का निर्देश है (गीता, 3/11)। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् सधता जायेगा, इन्द्रियों में उसकी आभा प्रस्फुटित होगी। यही गौ के रोम-रोम में देवता होने का आशय था। परमदेव परमात्मा का देवत्व स्पर्श कराकर देवता उसी में विलय पा जाते हैं और संयम की परिपक्व अवस्था में गौ भी विलीन हो जाती है। थी तो यह अन्तःकरण की

वस्तु; किन्तु धर्मशास्त्र गीता विस्मृत हो जाने से श्रद्धालुजन इसे यत्र-तत्र ढूँढ़ने लगे और कालान्तर में वाह्य देवता और पशु-पक्षी, वनस्पति, गाय इत्यादि की पूजा में आ गये। गाय आदरणीय अवश्य है लेकिन पूजा परमात्मा की ही होनी चाहिए।

इसलिए भ्रान्तियों को छोड़कर आप एक हरि का भजन कीजिए। चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम याद आया करे। सुबह-शाम बैठकर आधा घण्टा-बीस मिनट समय अवश्य दें। बच्चों को खेलाते, खुरपी चलाते हर परिस्थिति में नाम याद आया करे – तब भजन ठीक है। भगवान बैकुण्ठ से भाग कर नहीं आते। वह आपके हृदय में विराजमान है। आप संकल्प बाद में करते हैं, वह पहले से ही जानते हैं। वह जानते हैं कि जीव प्रेमपूरित हृदय से श्रद्धा से मुझे पुकार रहा है; तुरन्त सुविधा देने लगेंगे। कुछ ही दिनों में वह आपसे बातें करने लगेंगे। आपको वह सोते से जगायेंगे, कहेंगे– बेटा बैठ! भजन कर। अब **'जाके रथ पर केशो। ता कहँ कौन अँदेशो।।'** उस दिन से सारे सन्देह दूर हो जाते हैं कि धर्म क्या है? भजन कैसे करें? इसलिए सब लोग एक परमात्मा का सुमिरन करें। भगवान एक से दो कभी हुआ ही नहीं, होंगे भी नहीं। हाँ, प्रभु के नाम अनन्त हैं, पूरा नाम तो कोई नहीं है। वह अनिर्वचनीय है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ।।

दरस दिवाना बावला

संसार में उच्चकोटि के जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी रहनी पर विचार करें, पूर्ण त्याग में उनकी वृत्ति देखने को मिलेगी। वे क्रमशः एक या दो वस्त्रों में निर्वाह करते देखे जाते हैं। कुछ विभूतियाँ ऐसी भी रही हैं जिनके शरीर पर वस्त्र ही नहीं रहा। यह उन्होंने जानबूझकर नहीं त्यागा था। भजन का एक स्तर ऐसा आता है जहाँ भगवान ही वस्त्र का त्याग करा देते हैं।

पूज्य गुरु महाराज ने अपनी जन्मभूमि से कुछ ही दूरी पर, गाँव में ही, एक झाड़ी के पास भजन करना आरम्भ किया। भाविक साथियों ने वहाँ बगीचा लगा दिया। गाँव के लोग महाराजजी के भजन-भाव को लेकर रात-दिन छींटाकशी करते। उनकी कटूक्तियों से व्यथित गुरु महाराज भगवान से नित्य ही प्रार्थना करते, आदेश हो जाता तो मैं कहीं दूर जाकर भजन करता। 'गाँव का जोगी जोगड़ा बाहर का जोगी सिद्ध।' यहाँ लोग अकारण ही कुछ न कुछ कहते ही रहेंगे; किन्तु भगवान से आदेश मिल ही नहीं रहा था। साधक अपने मन-बुद्धि से कोई भी काम नहीं कर सकता, पानी नहीं पी सकता, एक कदम नहीं उठा सकता। कब? जब भगवान रथी होकर मार्गदर्शक के रूप में अपने सेवक को सँभालने लगते हैं। बाहर जाने का अनुरोध वह प्रायः करते; किन्तु अनुमति नहीं मिल रही थी।

क्रमशः दिन बीतते गये। बगीचे में बौर आने लगे थे। महाराजजी ने मन में विचार किया– बस, अब कहीं नहीं जायेंगे। देखो न! वृक्षों में बौर आने लगा है तो फल भी लगेंगे। फल-फूल खाया करूँगा और भजन करूँगा। भजन ही तो करना है। अब यहीं रहूँगा और कहीं नहीं जाऊँगा।

जिस दिन महाराजजी के मन में ऐसा संकल्प आया, उसी दिन उन्हें अनुभव में आदेश मिला– 'प्रयागराज जाओ।' महाराजजी उठकर तुरन्त चल पड़े। पाँच-छः भक्त भी उनके साथ हो लिये। प्रयाग पहुँचकर महाराजजी

सबसे साथ नाव पर घूमते रहे। रात में सबके सो जाने पर उन्होंने भगवान से पूछा– प्रयागराज तो हम आ गये, अब क्या करें? अनुभव में ही उन्हें आदेश मिला– इन लोगों का साथ छोड़ दो। सबको शयन करता छोड़ निस्तब्ध रात्रि में महाराजजी चुपचाप गायब हो गये। गंगा के किनारे-किनारे महाराजजी उन लोगों से बहुत दूर निकल आये।

ऊषाकाल का उजाला फैलने लगा। महाराजजी ने भगवान से पूछा– अब? भगवान ने कहा– शरीर पर जितने वस्त्र हैं, सब उतारकर गंगा के किनारे रख दो। कमण्डल और छड़ी उठाओ। गंगा का यहीं किनारा पकड़ते हुए आगे बढ़ जाओ। अब दो उपवास-तीन उपवास महाराजजी के लिए आये दिन की घटना थी। महाराजजी जीवन-निर्वाह के लिए भी भिक्षा नहीं करते थे। उन्हें विश्वास था– जिन प्रभु ने मुझसे घर छुड़ाया, वही हमारे योग-क्षेम की व्यवस्था करेंगे, मैं क्यों चिन्ता करूँ? भगवान कहते हैं–

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥

(मानस, 7/45/3)

मेरा दास कहलाता है और अन्य से भी आशा करता है, ऐसे साधक का मुझ पर विश्वास ही कहाँ है? अतः वह भिक्षा भी नहीं करते थे, निराधार विचरण करते ही रह गये। महाराजजी कहा करते थे– ''हो! बगीचे से थोड़ी-सी ममता हो गयी तो भगवान ने लँगोटी तक उतरवा कर रखवा दिया।'' अस्तु वस्त्र कोई त्यागता नहीं, भगवान ही वस्त्र का त्याग करा देते हैं। क्रमशः विचरण करते-करते आप सही अनुसुइया आश्रम में पधारे, तब भगवान ने क्षीण-सा आदेश दिया– अब कुछ लपेट सकते हो। जब हमलोग आश्रम में पहुँचे तो देखा महाराजजी मलमल की साफी कभी-कभार लपेट लेते थे। कदाचित् शरीर पर कुछ भी न रहता तब भी दीर्घकाल तक उन्हें इसका भान भी नहीं होता था। यह दिगम्बर वेष महाराजजी को बहुत प्रिय था; क्योंकि यह वेष भगवान का दिया हुआ था। इसी आशय का एक भजन महाराजजी प्रायः गुनगुनाया करते थे–

दरस दिवाना बावला अलमस्त फकीरा।
एक एकाकी हो रहा अस मत का धीरा।।
दरस दिवाना.....

धरती तो आसन किया तम्बू आसमाना।
चोला पहने खाक का रहे पाक समाना।।
दरस दिवाना.....

पीवत प्याला प्रेम का सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहे जस मैगल हाथी।।
दरस दिवाना.....

हिरदै में महबूब है हर दिल का प्याला।
पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला।।
दरस दिवाना.....

बंधन काटे मोह का रहता निःशंका।
ताकी नजर न आवता क्या राजा रंका।।
दरस दिवाना.....

सेवक को सतगुरु मिले कछु रहे न तबाही।
कह कबीर निज घर चलो जहँ काल न जाई।।
दरस दिवाना.....

भगवद्दर्शन के लिए जिसकी सचमुच हृदय से लव लग गयी, वे बावले होते हैं, कहीं खोये से रहते हैं। सांसारिक दृष्टिवाले उन्हें दीवाना समझते हैं। माता मीरा के लिए लोगों ने कहा– देखो न! जो नौलखा हार पहनती थी, जो महारानी के पद पर अभिसिक्त थी, गले में तुलसी की माला डालकर घूम रही है। जरूर मीरा पागल हो गयी है। **'लोग कहैं मीरा भई बावरी सास कहै कुलनासी रे।'** सास ने तो गजब ही कर दिया। वह कहने लगी– यह कुल में कलंक पैदा हो गयी। इस कुल-कलंक को नष्ट करने के लिए मीरा की जितनी परीक्षायें हुईं– जहर का प्याला, शूली की शय्या;

सबके पीछे उसी की प्रेरणा थी। आज उस कुलवन्ती सास को कोई नहीं जानता और मीरा को सारा संसार जानता है। देखने में तो यह आता है कि भजन-पथ में जो लग जाता है, सामान्य लोगों के व्यवहार से वह थोड़ा अलग-अलग रहता है। लोग सोचते हैं– यह पागल है। किन्तु सच पूछिये, वह बावला नहीं, '**अलमस्त फकीरा**' होता है। वह अपने में ही मस्त है– '**फिकर फाड़ फकनी करे, ताहि कहैं फकीर।**' भली-बुरी सभी प्रकार की चिन्तायें जिसके चित्त से हट गयीं हों, उसे फकनी कर जो फाँक गया है, वह फकीर होता है। यही सन्त कबीर की पंक्तियों में है–

दरस दिवाना बावला अलमस्त फकीरा।
एक एकाकी हो रहा अस मत का धीरा॥

एक परमात्मा में सुरत लगाकर वह प्रभु का दीवाना एकान्तसेवी होकर रहता है। आप किसी को एकान्त में बैठा दें, उससे कोई बातचीत करनेवाला न मिले तो चार दिन में वह बौखला उठेगा। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी के पास दो बुजुर्ग अपनी समस्या लेकर पहुँचे, कहा– महाराज! बड़ी बेरोजगारी है। कहीं रोजी-रोटी का प्रबन्ध हो जाता तो आपकी बड़ी कृपा होती। उनकी दयनीय दशा से गोस्वामीजी द्रवित होकर बोले– यह एक-एक माला ले लो। एक पूरब की ओर उस वृक्ष के नीचे बैठ जाओ और दूसरा पश्चिम की ओर उस पेड़ के नीचे। दोनों दिनभर राम-राम जपो। आपको समय-समय पर जलपान और भोजन मिलता रहेगा। प्रतिदिन शाम को आप दोनों को दो-दो रुपये भी मिलेंगे।

वह सस्ती का जमाना था। दिनभर की मजदूरी आना-दो आना थी। अभी बहुत दिन नहीं व्यतीत हुए हैं, हेडमास्टर की तनखाह पाँच रुपये मासिक थी। वह दोनों वयोवृद्ध बहुत प्रसन्न हुए, बोले– ''महाराज! भगवान का भजन और ऊपर से रुपया! लोक-परलोक दोनों बन जायेंगे।'' दोनों डट गये। दो दिन तो दोनों किसी प्रकार माला जपते रहे। तीसरे दिन वे किसी से बात करने के लिए छटपटाने लगे। चौथे दिन उन्होंने माला रख दिया और

बोले, ''भगवन्! हमसे आप फावड़ा चलवा लें, कृषि-कार्य ले लें, यह माला हम लोगों से पार नहीं लगेगी।'' सांसारिक लोगों के लिए एकान्त-सेवन एक जटिल समस्या है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! ऐकान्तिक सुख मैं हूँ। (गीता, 14/27) शान्त-एकान्त में भी रात-दिन लौ लगी रहे, मन सुखपूर्वक भजन में लगने लगे, वहाँ मेरा निवास होता है। बुद्धि का ऐसा धैर्यवान अलमस्त फकीर! ऐसे महापुरुष की वेशभूषा, आसन, शय्या इत्यादि कैसी होती है? इस पर कहते हैं–

धरती तो आसन किया तम्बू आसमाना।
चोला पहने खाक का रहे पाक समाना॥

धरती ही उनका आसन है और तम्बू है आसमान! उनके बारहों महीने खुले आसमान के नीचे व्यतीत हो जाते हैं। वर्षा में वर्षा, गर्मियों में गर्मी, शीतकाल में कड़ाके की ठण्ड उनके अपने शरीर पर ही व्यतीत होती है। जब धरती पर ही रहना है तो धूलि और गर्द शरीर पर बराबर गिरेगा ही। **'चोला पहने खाक का'**–शरीर धूल-धूसरित भले हो, वह मैले-कुचैले नहीं हैं। **'रहे पाक समाना'**– वह परम पावन बने रहते हैं। उनके चित्त में मल नहीं है। वह एक जगह सुरत को लगाये हुए रहते हैं। प्रभु-दर्शनों की आस लिए हुए उन महापुरुष के लिए मनोरम शय्या और जमीन की राख में अन्तर प्रतीत नहीं होता।

साधना के आरम्भिक वर्षों में पूज्य गुरु महाराजजी गंगा के किनारे निराधार विचरण करते-करते जहाँ शाम हो जाय, बाँस की कोठी मिले, वहीं अपना आसन लगा लेते थे। बाँस की कोठी के पास, खेत में ढेलों पर वह बैठ जाया करते थे। समीप की पगडण्डियों या खेत की मेड़ों से कोई घास लेकर, कोई अपना पशु हाँककर ले जा रहा दिखायी पड़ता। जहाँ उनका आना-जाना शान्त होता, महाराज धीरे से उठकर बाँस की कोठी के बीच में बैठ जाया करते थे। वहाँ वह अपने बैठने भर की जमीन साफ कर लेते थे और आसन लगाकर वहीं बैठ जाते थे। रात्रि में दो या एक बार नीचे का पाँव ऊपर या ऊपर का पाँव नीचे करते और ध्यान में ही सवेरा हो जाता।

शीतकाल में, माघ के महीने में ज्योंही सवेरे पहली किरण निकलती, महाराज जी पुनः खेत में जाकर जहाँ सूर्य की किरण सीधी पड़ती थी, वहीं जमीन पर लेट जाते थे। एक बार के सोने में 11 बजे आँख खुलती, प्रगाढ़ निद्रा आती। ऊबड़-खाबड़ जमीन और इतनी अच्छी निद्रा कि डनलप के गद्दों पर वैसी नींद क्या आयेगी!

एक नींद लेकर आप गंगा के किनारे-किनारे आगे बढ़ जाते थे। उसी बीच आप नित्यक्रिया, दातून इत्यादि भी कर लेते थे। सायं तक यदि कोई कुटिया मिल भी जाती, आप उस कुटी में न जाते। आपकी मान्यता थी कि इस समय कोई न कोई कुटी में अवश्य होगा। अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त वह गपशप करके हमारे चिन्तन का समय ही तो नष्ट करेगा। इसलिए आप कुटी से कुछ दूर बाहर ही किसी वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तनरत रहते थे। प्रातः होने पर आप कुटी में चले जाते थे। जो वहाँ पर सन्त मिलते, उन्हें सादर प्रणाम कर लेते। यदि उन्होंने कुछ दिया तो आप खा लेते अन्यथा चुपचाप आगे बढ़ जाते थे।

गुरु महाराज बताते थे कि सर्दियों की रातों में कभी-कभी रात बारह बजे ध्यान उचट जाय तो इतनी ठंडक लगती थी कि लगता था जैसे अब प्राण ही नहीं बचेंगे। उस समय महाराजजी उठकर एक फर्लांग तेजी से दौड़ लगाते, उसी वेग से लौटते; शरीर में गर्मी आ जाती। उस गरमी के रहते-रहते महाराजजी पुनः ध्यान में बैठ जाते। ध्यान लग जाता, सुरत पकड़ में आ जाती तो सवेरा हो जाता। हमलोगों ने पूछा– ''महाराजजी! क्या ध्यान में ठंड नहीं लगती?'' उन्होंने बताया– ''जहाँ सुरत ध्यान में लगी, शरीर में भीतर से गरमी आ जाती थी। शरीर के बाहर चमड़े पर ठंड अवश्य लगती थी, रोयें भी खड़े रहते थे; किन्तु भीतर पूर्ण शान्ति और गर्मी बनी रहती थी।'' निराधार विचरण की यही दिनचर्या थी जिसमें शयन का आसन कँकरीली-पथरीली जमीन, मिट्टी का आसन! वास्तव में अनादिकाल से संसार में जितने विरही सन्त हुए हैं, साधनकाल में सबने धरती को ही आसन बनाया। ऐसे सन्त निरन्तर चिन्तन में क्यों रहे आते हैं?–

पीवत प्याला प्रेम का सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहे जस मैगल हाथी।।

ऐसे सन्त प्रेम का प्याला पीते हैं। आजकल इस 'प्रेम' शब्द का दुरुपयोग होने लगा है। अब तो लोग लिव-इन-रिलेशनशिप में रहने लगे हैं, कहते हैं– 'प्रेम हो गया।' भला जीवों से कैसा प्रेम? कभी प्रेम करनेवाला जीवित और प्रेमास्पद ही चल बसा! यह परस्पर राग-द्वेष, काम-क्रोध, आशा-तृष्णा, वासनाजनित लगाव हो सकता है, प्रेम नहीं। स्वार्थ-सिद्धि में व्यवधान पड़ते ही यह तथाकथित प्रेम विद्वेष और सम्बन्ध-विच्छेद में बदल जाता है।

श्रीरामचरितमानस का प्रसंग है। भगवान राम के वनवास का आरम्भिक दिन था। शृंगवेरपुर में कुश की शय्या पर माता सीता और श्रीराम विश्राम कर रहे थे। लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर सुरक्षा में बैठे थे। निषादराज भी कार्यों से निवृत्त होकर धनुष लेकर लक्ष्मणजी के पास ही बैठ गये। महान विभूतियों को घास पर लेटे देख उसे बड़ा कष्ट हुआ। उसने कहा– भ्राता लक्ष्मण! यह माता कैकेयी बहुत कुटिल है। इस दुर्बुद्धि ने अपने ही फलते-फूलते वंश पर कुठाराघात किया। लक्ष्मण ने कहा– नहीं भैया! ऐसी बात नहीं है। माता कैकेयी का तो कोई दोष ही नहीं है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता।।
(मानस, 2/91/4)

संसार में सुख या दुःख देनेवाला कोई है ही नहीं। यह तो किसी जन्म में किये हुए अपने ही कर्मों का भोग है जो घूम-फिरकर सामने आ रहा है।

जोग बियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।
(मानस, 2/91/5)

जोग माने मिलना, बियोग माने बिछुड़ना, हितैषी, अहितैषी और मध्यस्थ– ये भ्रम के फन्दे हैं। इतना ही नहीं,

धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू।।

(मानस, 2/91/7)

धरनी है, धाम है, पुर है, परिवार है, स्वर्ग-नरक और जहाँ तक व्यवहार है,

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं।।

(मानस, 2/91/8)

इन सबके विषय में सुनना, इनके विषय में देखना, इनके विषय में मन में विचार करना मोह का मूल है, परमार्थ कदापि नहीं। अर्थात् स्वर्ग और नरक, स्वर्गिक ऐश्वर्य और इन वस्तुओं के पीछे लगाव, इनके विषय में सुनना-गुनना मोह का मूल है, परमार्थ कदापि नहीं। परमार्थ क्या है?–

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।।

(मानस, 2/92/6)

हे सखे! परम परमार्थ तो एक ही दिशा में है– मन-क्रम-वचन से राम–उन परम प्रभु के चरणों में प्रीति! इसलिए जड़ पदार्थ, जो नश्वर है, उससे कभी प्रेम हो ही नहीं सकता। जड़ पदार्थों में लगाव कार्यों की आपूर्ति के साधन मात्र हैं। प्रेम परमात्मा से होता है। इसलिए कबीर ने सन्तों के लिए कहा– **'प्याला पीवे प्रेम का'**। मानस में है–

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।

(मानस, 1/184/6)

भगवान कण-कण में, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं; किन्तु उनको खोज निकालने का उपाय प्रेम है। प्रेम से वह प्रकट हो जाते हैं–

अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।।

(मानस, 1/184/7)

यद्यपि वह चराचर जगत् में हैं, सबसे अलग भी हैं किन्तु प्रेम से वह वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे पत्थर की रगड़ से अग्नि। उन्हें प्रकट करने का

उपाय केवल प्रेम है और यही कबीर कहते हैं, एकान्त सेवन का राज भी है कि वह प्रेम का प्याला हरदम पीते रहते हैं। इससे **'सुधरे सब साथी'**– हमारे साथी सुधर जाते हैं। पहले यही साथी सुधरे नहीं थे। आप भगवान से प्रेम करना चाहेंगे किन्तु आँख कुछ देखकर व्यवधान पैदा करेगी, कान कुछ सुनकर बाधा प्रस्तुत करेगा, मन कुछ सोचकर आपको भगवत्प्रेम से विमुख कर देगा। बिगड़े साथी भजन में लगने ही नहीं देंगे।

आदि शंकराचार्यजी से शिष्यों ने पूछा– भगवन्! सृष्टि में शत्रु कौन है? 'प्रश्नोत्तरी' में है– **'के शत्रवे सन्ति निजेन्द्रियाणि। तान्येव मित्राणि जितानि यानि।'** शंकराचार्य ने बताया– शत्रु कौन है? अपनी इन्द्रियाँ और अपना मन! यदि ये जीत ली जायँ तो यही मित्र बनकर मित्रता में बरतने लगती हैं, परम कल्याण करनेवाली होती हैं, परम श्रेय, कैवल्य पद की दूरी तय करा देती हैं। इसलिए हमें प्रभु के चरणों में प्रेम स्थिर करना है तो इन साथियों की हमें आवश्यकता है। मन की, अन्तःकरण की, इन्द्रियों की अनुकूलता आवश्यक है। हम आज भजन करने लगे हैं, पहले तो नहीं करते थे, कुछ और ही किया करते थे। संस्कारों की वह रील चित्त में पड़ी हुई है। जब हम चिन्तन में लगते हैं तो यही रील हमारे चिन्तन को बिखेर देती है। ये सुधरे कैसे? इनके सुधरने का उपाय है प्रेम। **'प्याला पीवे प्रेम का सुधरे सब साथी।'** इससे मन सुधर जायेगा, इन्द्रियाँ सुधर जायेंगी, अनुकूल हो जायेंगी।

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, 5/33/3)

उसे भजन के अतिरिक्त कुछ अच्छा लगेगा ही नहीं इसलिए **'सुधरे सब साथी'** और **'आठ पहर झूमत रहे जस मैगल हाथी।'**–आठों पहर अर्थात् रात-दिन, सोते-जागते–

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय॥

जब तक जगो, सुमिरन करो; सोओ तो लव लगाकर निद्रा-लाभ करो, सोकर उठो तो सुरत वहीं लगी मिले– इस प्रकार आठों पहर भजन में लगना है, क्रम न टूटे। ऐसा भजनानन्दी भजन के ही नशे में दिन-रात मदमस्त हाथी की तरह अपने में ही निमग्न रहता है। जिनसे वह प्रेम करता है, वह प्रभु रहते कहाँ हैं? तीर्थों में या मन्दिरों में? वह प्रेम कहाँ करता है? इस पर कहते हैं–

हिरदै में महबूब है हर दिल का पियाला।

उनका प्रेमास्पद प्रभु हृदय में रहता है। वशिष्ठजी ने चित्रकूट की सभा में परमात्मा राम से कहा–

सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ॥

(मानस, 2/257)

गोस्वामीजी का परमात्मा हृदय में रहता है। यही आदिशास्त्र गीता का भी उद्घोष है। अर्जुन में पहले तो क्षमता ही नहीं थी कि सत्य को समझ ले किन्तु क्रमशः उसके सभी प्रश्नों का समाधान हो जाने पर, जो प्रश्न वह नहीं कर सकता था, भगवान ने स्वयं उन प्रश्नों को उठाया कि अर्जुन! जानते हो, ईश्वर कहाँ रहता है? और स्वयं ही उत्तर दिया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानां यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। जब वह इतना समीप है तो लोग देखते क्यों नहीं? भगवान ने बताया कि मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर लोग भ्रमवश भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं जानते। प्रश्न उठता है कि ईश्वर हृदय में है तो हम शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान बोले–

'तमेव शरणं गच्छ'–उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। **'सर्व-भावेन भारत'**– सम्पूर्ण भावों से जाओ। थोड़ा-सा हमारा भाव पशुपतिनाथ में है, कुछ कमच्छा देवी में, थोड़ा मैहर, थोड़ा और कहीं.....हम तो रुपये

में बारह आना तो लीक हो गये। हमारे मन के भाव बिखर गये, श्रद्धा विभाजित हो गयी, आस्थाएँ छितरा गयीं तब भगवान नहीं मिलेंगे। इसलिए अर्जुन! सम्पूर्ण भावों से उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। मान लें, हमने सारी मान्यताओं को त्याग दिया, मन को सब ओर से समेटकर एक हृदयस्थ ईश्वर की शरण चले ही गये, उससे लाभ क्या? भगवान कहते हैं– **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं'**– तुम परमशान्ति पा जाओगे और **'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'**– उस स्थान को, उस निवास को प्राप्त हो जाओगे जो शाश्वत है। उसमें हर साल चूना लगाओ, मरम्मत करो, इन सबकी जरूरत नहीं रह जायेगी। तुम्हारा जीवन शाश्वत और तुम्हारा धाम भी शाश्वत!

कहने का आशय यह है कि कबीर ने कोई नयी बात नहीं कहा। जो आदिशास्त्र गीता में है, जिसे वैदिक-औपनिषदिक ऋषि कहते आये हैं, बस उसी सत्य को पुनः व्यक्त कर दिया। अन्तर इतना ही है कि उन्होंने इस तथ्य को सधुक्कड़ी भाषा में प्रस्तुत किया कि जिससे प्रेम करते हो, वह महबूब कहाँ है, तो **'हिरदै में महबूब है'**– वह प्रभु हृदय में निवास करते हैं और **'हर दिल का पियाला'**–कहो कि केवल हमारे हृदय में है, ऐसी बात नहीं है। वह सबके हृदय में उतनी ही मात्रा में विद्यमान है–

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।
बलिहारी घट तासु की जा घट परगट होय॥

मेरे साईं, मेरे स्वामी **'सब घट'**–सबके हृदय-देश में निरन्तर निवास करते हैं। तब तो सभी घटों को प्रणाम करना चाहिए। महापुरुष कहते हैं– नहीं, मैं उस घट के ऊपर अपने आप को निछावर करता हूँ जिस घट में वह प्रकट हो गये। जिसने साक्षात् कर लिया, प्रत्यक्ष दर्शन के साथ परमात्म भाव में स्थिति प्राप्त कर लिया। कबीर कहते हैं– सभी उस प्याले को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु–

पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला।

उसे वही जौहरी पीवेगा जो गुरु के मुख का मतवाला है।

कबीर गुरु मुख चन्द्रमा, सेवक नयन चकोर।
आठ पहर निरखत रहे, गुरु मूरत की ओर॥

कबीर कहते हैं– सेवक को आठों पहर गुरु के चन्द्रमुख को चकोर की तरह देखते रहना चाहिए, उनके प्रति समर्पित रहना चाहिए, उनके गुरुत्व की आन्तरिक क्षमता को अर्जित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। गुरु महाराज जी कहते हैं–'ऐसा करो...', शिष्य उसे करने से कतरा रहा है, विपरीत आचरण कर रहा है तो वह गुरुमुख का मतवाला कहाँ रह गया? शिष्य तो उनके हाथ का यंत्र बनकर चलनेवाला पथिक है। जब कभी ध्यान का स्तर आयेगा तब भी ध्यान उन्हीं में केन्द्रित होता है, इसके पूर्व नाम-जप करना चाहिए। पूज्य गुरु महाराजजी का कहना था कि गुरु आज्ञा-पालन भजन है–

गुरोर्वाक्यं सतत ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः॥

सत्गुरु का यदि एक वाक्य उपलब्ध है तो उसकी तुलना में करोड़ों शास्त्र भी व्यर्थ हैं। गुरु का वाक्य ही सत्य है, शिष्य के लिए वही करणीय है। ऐसे महापुरुष रहते कैसे हैं?

बंधन काटे मोह का रहता निःशंका।
ताको नजर न आवता क्या राजा रंका॥

वे मोह का बंधन काट देते हैं क्योंकि '**मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥**' *(मानस, 7/120/29)*– सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है। उन व्याधियों से अनन्त शूलों की सृष्टि होती है। किन्तु महापुरुष मोह के बन्धन को ही काट देते हैं और निःशंक होकर निवास करते हैं। ऐसे महापुरुष की दृष्टि में ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा जैसा भेदभाव नहीं होता। '**क्या राजा रंका**'– उनकी निगाह में राजा और रंक का अन्तर नहीं दिखायी देता। उनकी दृष्टि सीधे आपके हृदय-देश की अवस्था पर पड़ती है, आत्मा पर पड़ती है, चमड़ी के रहन-सहन पर नहीं। उनके यहाँ शेर और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते हैं। कोई फुटपाथ पर जीवनयापन

कर रहा है तो कोई सिंहासन पर। ये तो जन्म-मृत्यु के बीच के पड़ाव की अवस्थाएँ हैं। आगामी जीवन में न जाने कौन-सी योनि, कौन-सा स्थान या कौन व्यवस्था मिल जाय! जड़भरत जैसे महापुरुष को भी एक जन्म मृग का लेना पड़ा था। इसी प्रकार हमें-आपको जन्म लेना पड़े तो कौन बड़ी बात है! इसीलिए महापुरुषों की दृष्टि भौतिक ऐश्वर्य पर नहीं पड़ती। उनके लिए राजा और रंक समान हुआ करते हैं। राजा भी अच्छे पथिक हुए हैं और अत्यन्त गरीब पथिक भी भगवान को पा गये, जैसे–शबरी इत्यादि। इसलिए महापुरुष समदर्शी और समवर्ती होते हैं। अन्त में कबीर कहते हैं कि हम प्राप्त करें तो कहाँ पर?–

सेवक को सतगुरु मिले कछु रहे न तबाही।
कहै कबीर निज घर चलो जहँ काल न जाई॥

यदि सेवक है और उसको कदाचित् सत्गुरु मिल जायँ तो उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं खटकेगा। वह सबकुछ प्राप्त कर लेगा; किन्तु यदि सद्गुरु नहीं मिला तो–

पूरा सतगुरु ना मिला मिली न साँची सीख।
भेष जती का बनाय के, घर-घर माँगे भीख॥

यदि पूरा सत्गुरु उपलब्ध नहीं हैं तो यती का वेष बना लेने पर भी कोई लाभ नहीं होगा। घर-घर जाकर भीख माँगना ही हाथ लगेगा, अन्य कुछ भी नहीं। ऐसा व्यक्ति सत्य वस्तु से दूर ही रहेगा। परमात्मा यदि परम धाम है तो सत्गुरु उसके आत्मा की जागृति से पूर्तिपर्यन्त पथ का प्रवेश-द्वार है। प्रवेश के पश्चात् **'गुरु न चेला, पुरुष अकेला।'** वह जिस स्थिति में स्वयं निमग्न थे, उसी स्थिति की मस्ती शिष्य में भी प्रसारित हो गयी। वह शिष्य भी सत्गुरु की क्षमतावाला हो गया। यदि कोई सेवक है, सचमुच लगनशील है, उस नशे को पाना चाहता है तो आवश्यकता है सत्गुरु की। गुरुओं की तो कतार लगी है। यहाँ से बनारस तक जाते-जाते आपको दसियों हजार गुरु मिल जायेंगे। वैसे भी देखा जाय तो सांसारिक जीवनयापन के गुरु,

पहलवानी के गुरु, कोई आचार्य, कोई पुर का हित करनेवाला पुरोहित– सभी गुरु ही तो हैं लेकिन आवश्यकता है सत्गुरु की। सत्य है क्या?–

सत्य वस्तु है आत्मा मिथ्या जगत प्रसार।
नित्यानित्य विवेकिया लीजै बात विचार॥

(परमहंसजी की 'बारहमासी')

सत्य है, नित्य है, केवल एक परम तत्त्व है तो आत्मा! वैदिककाल में भगवान का नाम आत्मा था। वे अन्तःकरण के अन्तराल में विदित होते हैं इसलिए आत्मा कहे जाते हैं। उस आत्मा के जो ज्ञाता हों, आत्मदर्शन, आत्मस्थित और आत्मप्रज्ञ हों, सत्य से संयुक्त जिनकी अवस्था होगी, वह सत्गुरु हैं जो आत्मा को आपके हृदय से जागृत कर सकें और उसके संरक्षण में आपको चला सकें। सेवक को ऐसे सद्गुरु मिल गये, **'कछु रहे न तबाही'**– फिर किसी प्रकार का कोई अभाव नहीं खटकेगा, न साधना में किसी प्रकार भ्रान्ति की संभावना ही रहेगा। उस सद्गुरु की दी हुई विद्या कहाँ तक पहुँचाती है?–

'कहै कबीर निज घर चलो' सूर्य अस्त होने पर सभी तो अपने घर चलने का प्रयास करते हैं, भागते-दौड़ते तीर की तरह घर पहुँचते हैं लेकिन कबीर कहते हैं– उस घर चलो जहाँ काल का प्रवेश नहीं है–

काल न खाय कलप नहिं व्यापे, देह जरा नहीं छीजे।

यहाँ अपना घर कहाँ? यह तो जन्म-मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है, 'चिड़िया रैन बसेरा' है, मुसाफिरखाना है।

पांचों नौबत बाजते उठत छतीसों राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥

जिस महल में आप बैठे हैं, यहाँ कभी इतना कड़ा पहरा था– खबरदार! सावधान! हुजूर आ रहे हैं। जब हम यहाँ आये, किले के इस खण्डहर पर स्यार, कौवों और सर्पों की भरमार थी। यह घर उनका था तो छोड़कर क्यों चले गये? यह तो जन्म-मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है।

अपने खातिर महल बनाया। आपहु जाय जंगल बिच सोया॥

अपने रहने की बहुत तैयारी की, जहाँ रहने लायक हुआ, आप जंगल में जाकर सो गये, राम नाम सत्य हो गया इसलिए यह आपका घर नहीं है। घर तो वह है जिसमें काल का भी भय न रहे। काल से अतीत अकाल पुरुष तो अविनाशी परम तत्त्व परमात्मा है। साधना के इसी निर्देशन में चलकर जहाँ मूल का स्पर्श किया, दर्शन और स्थिति मिली, वही आपका धाम कैवल्य पद है। उसी को कबीर ने अपना घर कहा है। वह अरिहंत पद है, जहाँ कोई ऐसा शत्रु नहीं है जो आपको उस अवस्था से चलायमान कर दे। उसी घर के लिए कबीर स्थान-स्थान पर बल देते हैं–

तवन घर चेतिहे रे भाई। तोहरा आवागमन मिटि जाई॥

उस घर के लिए यत्न करो जहाँ जन्मना-मरना, इस संसार में आना-जाना सदा के लिए समाप्त हो जाय। भगवान श्रीकृष कहते हैं– अर्जुन! योगविधि यज्ञ है। इस यज्ञ को चरितार्थ करना कर्म है। आत्मा ही शाश्वत परम सत्य है। उसकी प्राप्तिवाली योगविधि को कार्यरूप देना ही कर्म है। अर्जुन! पूर्व में होनेवाले जितने मनीषी हुए, इसी कर्म को करके परम नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त हो गये। इस कर्म को किये बिना न कोई इस स्थिति को प्राप्त कर सका है और न ही भविष्य में कोई कर सकेगा। किन्तु कर्मों की पूर्तिकाल में जिसको आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस पुरुष के लिए कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न कर्म छोड़ने से कोई हानि है। उसे प्राप्त होनेवाली किञ्चित् वस्तु भी अप्राप्त नहीं है। फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार क्रिया में बरतते हैं।

ऐसे महापुरुष से अपनी समानता करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अपना परिचय देते हैं– अर्जुन! मुझे भी तीनों कालों में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त होनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है; फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार क्रिया में बरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो मेरे अनुसार समाज भी बरतने लग जायेगा और भ्रष्ट हो जायेगा। इस

प्रकार मैं समाज की हत्या करनेवाला हो जाऊँगा, वर्णसंकर पैदा हो जायेंगे और वर्णसंकर का कर्त्ता बनूँ। (गीता, 3/21) इसलिए आत्मतृप्त आत्मस्थित ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्त उन अज्ञानियों की बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे बल्कि स्वयं करते हुए उनसे भली प्रकार कर्म कराये; क्योंकि इसे करके ही परम नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है।

मान लें, हमने गीतोक्त साधना को समझा, सद्गुरु की विद्या को हृदयंगम किया, दृढ़ता के साथ लग भी गये, फिर भी अभी हम अज्ञानी ही हैं। कल प्राप्ति होनी है, किन्तु आज का दिन तो अज्ञान का है। गीता के अनुसार ज्ञान साक्षात् के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम है। (4/38) उसे जानकर साधक अनामय अमृतपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। यही संकेत इस पद में सन्त कबीर दे रहे हैं– **'कह कबीर निज घर चलो जहँ काल न जाई।'**

एक अच्छे से भ्रमणशील महापुरुष थे। उन्हें एक नवयुवक सेवक मिल गया। उसने निवदेन किया– ''भगवन्! मुझे शरण में रख लें।'' महापुरुष ने कहा– ''तुममें साधुता के लक्षण अभी तो नहीं है, फिर शिष्य बनना है तो चल मेरे साथ!'' उसने महाराज का कमण्डल उठाया और उन महात्मा के साथ चल पड़ा।

विचरणशील उन महात्मा ने एक गाँव के कुएँ के पास आसन लगाया। गाँवभर के लोग कुएँ पर आये, स्नान किया, पानी ले गये किन्तु उन महात्माजी को किसी ने छेड़ा नहीं। शान्त एकान्त में महात्मा तो भजन में लग गये, दिन के दो बज गये, सुरत लगी ही रह गयी, वह उठे ही नहीं। उधर शिष्य के मन में गाँववालों के प्रति आक्रोश बढ़ता जा रहा था। उसने सोचा– ऐसा दुष्ट गाँव! खाना-पीना पूछना तो दूर की बात थी, किसी ने दण्डवत् भी नहीं किया, सीताराम भी नहीं कहा। ऐसे गाँव में तो आग लग जानी चाहिए। गुरुजी को देखो! रोज तो भजन से दस-ग्यारह बजे उठ जाते थे, आज दो बज गया। गुरुजी को भी आज ही समाधि चटकी है।

ज्योंही गुरु महाराज की आँख खुली, शिष्य ने कहा– ''महाराज! यह तो बड़ा दुष्ट गाँव है। ऐसे गाँव में तो आग लग जानी चाहिए। देखिये न! खाना-पीना पूछने की कौन कहे, किसी ने सीताराम तक नहीं कहा।'' महाराज ने कहा– ''बेटा! भजन करने लायक जगह तो यही है। भजन करने की इतनी अच्छी जगह अन्यत्र मिली ही नहीं। जहाँ कोई न पूछे, वह जगह शान्त-एकान्त की होती है। हमारा तो विचार है कि भ्रमण के उपरान्त यहीं निवास करेंगे।''

शिष्य सहमत तो नहीं था किन्तु औपचारिकतावश बोल पड़ा– ''सत्य वचन महाराज!'' कुछ दूर जाने पर एक नगर पड़ा। गुरु महाराज ने दो आने देकर शिष्य से कहा– ''जाओ, चने ले आओ।'' शिष्य ने दुकानदार से पूछा– ''चने का क्या भाव है?'' दुकानदार ने कहा– ''एक रुपये का आठ सेर!'' शिष्य ने कहा– ''अरे, इतना महँगा! पीछेवाले गाँव में हम एक रुपये का दस सेर छोड़कर आ रहे हैं।'' सस्ती का जमाना था। भुनभुनाते हुए शिष्य ने चना खरीदा। तब तक उसकी दृष्टि गट्टे पर पड़ी। उसने पूछा– ''यह गट्टा क्या भाव है?'' उसने बताया– ''रुपये का आठ सेर।'' शिष्य ने चना दुकानदार की दौरी में उलट दिया और बोला– ''तब गट्टा ही दे दो।'' गट्टा अभी साफी में आया ही था कि निगाह पड़ गयी रसगुल्ले पर। उसने रसगुल्ले का मूल्य पूछा। उसे भी रुपये का आठ सेर बिकता देख शिष्य गट्टा उलटकर, रसगुल्ला लेकर छलकता हुआ जाकर गुरु महाराज के समक्ष रख दिया।

महाराजजी बोले– ''यह क्या उठा लाया? क्या तुम चना भी नहीं पहचानते!'' शिष्य ने कहा– ''महाराज! यह जगह बहुत ही अच्छी है। यहाँ रसगुल्ला एक रुपये में आठ सेर मिल रहा है।'' महाराजजी ने पूछा– ''अन्य वस्तुएँ किस भाव मिल रही हैं?'' शिष्य ने बताया– ''चना रुपये का आठ किलो, गट्टा भी आठ किलो, रसगुल्ला भी आठ किलो; सबकुछ रुपये का आठ किलो मिल रहा है।'' गुरुजी ने कहा– ''बेटा! यह अंधेर नगरी है। यहाँ से शीघ्र भाग चलो। यहाँ कोई महान संकट खड़ा हो सकता है।'' शिष्य ने

कहा– ''महाराज जी! आपके आशीर्वाद से संकट कैसा? आज्ञा होती तो मैं यहीं वैराग्य साधता।'' गुरुजी ने देखा, रसगुल्ला तो इसके मुँह लग गया। वह बोले– ''ठीक है, कोई संकट आये तो हमें याद कर लेना।'' शिष्य ने साष्टांग दण्डवत् किया और गुरुजी आगे बढ़ गये। शिष्य भी तालाब के किनारे झोपड़ी बनाकर वहीं रहने लगा।

शिष्य ने उपेक्षा के साथ सोचा– देखा जायेगा। भला हमें मुसीबत क्यों आयेगी? दिनभर में आठ-दस आने तो कहीं गये नहीं हैं। इतने में रबड़ी, बादाम, घी, दूध–सबकुछ पर्याप्त मिल जायेगा। उसने अपने भोजन की तालिका भी बना ली और लगा दण्ड-बैठक लगाने। चार-छः महीने में ही उसकी गर्दन पर मांस छा गया।

उन्हीं दिनों नगर में एक घटना घट गयी। एक चोर दीवाल में सेंध लगा रहा था। दीवाल कमजोर थी, गिर पड़ी और चोर उसी में दबकर मर गया। चोर का पिता राजा के पास जाकर बोला– ''हुजूर! अन्नदाता! गजब हो गया! हमारा एक ही लड़का था। उन सेठ की दीवाल गिर गयी जिससे दबकर वह मर गया।''

राजा कुछ नशे में था, बोला– ''ऐं! ऐसा हो गया? बुलाओ उस सेठ को।'' सेठ के आने पर राजा ने कहा– ''क्यों रे! इतना कमजोर मकान क्यों बनवाया? मान लो वह सेंध ही मार रहा था तो चोरों को दण्ड कोड़े मारना है, जेल भेजना है, चोरी के बदले मृत्युदण्ड कहाँ का न्याय है? खून का बदला खून! इस सेठ को फाँसी दे दो।''

सेठ उसी नगर का निवासी था, वहाँ की चालों में माहिर था। उसने कहा– ''पृथ्वीनाथ! दीवाल हमने नहीं, मिस्त्रीलोगों ने जोड़ा था। हमने तो पूरा पैसा दिया था। अब दीवाल कमजोर हो गयी तो दोष उनका है।'' राजा ने कहा– ''ठीक कहते हो, मिस्त्री बुलाये जायँ।'' राजा ने उसने कहा– ''इतनी खराब जोड़ाई क्यों की? देखो न! एक हत्या हो गयी। उस खून के बदले मुख्य राजगीर को फाँसी पर लटका दो।''

मिस्त्री ने कहा– ''रक्षा करें हुजुर! दुहाई सरकार की! बाल-बच्चे भूखों मर जायेंगे, अनाथ हो जायेंगे। हमारा तो कोई दोष ही नहीं है। सूत से नाप लें, दीवाल एकदम सही है। वह मजदूर, जो मसाला बना था, उसने पानी अधिक डाल दिया।'' मजदूर पकड़ा गया। उससे भी राजा ने पूछा– ''इतना रद्दी मसाला क्यों बनाया?'' मजदूर ने कहा– ''गरीबपरवर! सरकार की, हुजूर की हाथी पर सवारी इतनी धूमधाम से निकली कि मैं देखता ही रह गया, इधर मसक से पानी अधिक गिर गया।''

राजा ने कहा– ''ऐसी बात! उस कोतवाल को बुलाओ जिसने मेरी सवारी निकालने का प्रबन्ध किया।'' कोतवाल के आने पर राजा ने कहा– ''क्यों रे! तुमने मेरी सवारी इतनी धूमधाम से क्यों निकाली कि जनता अपना काम-धाम भूल गयी? ले जाओ इस कोतवाल को फाँसी पर चढ़ा दो।'' कोतवाल को रोज-रोज डाँट पड़ती ही रहती थी, सूखकर काँटा हो गया था। वह 'हुजुर-हुजुर' करता ही रह गया किन्तु जल्लादों ने उसे पकड़ लिया।

जल्लाद ने कोतवाल के गले में फाँसी का फन्दा डाला तो बोला– ''हुजूर! यह फाँसी ढीली पड़ रही है।'' मंत्री ने भी देखा तो कहा– ''इसकी गर्दन पतली है।'' राजा ने कहा– ''तुम मंत्री पद पर रहने लायक नहीं हो। इतना बड़ा मुकदमा हमने निपटारा कर दिया। इस छोटी सी समस्या का हल नहीं कर सकते? जाओ, जिसे भी यह फाँसी ठीक-ठाक लगती हो, उसी को लगा दो।''

अब मोटी गर्दनवालों की खोज होने लगी। खोजते-खोजते लोग उसी तालाब पर पहुँच गये, जहाँ ब्रह्मचारीजी थे। सिपाहियों ने कहा– ''चलिये महाराज! राजासाहब के यहाँ आपका बुलावा है।'' शिष्य बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा– सेठ-साहूकारों और जमींदारों का अन्न तो बहुत खाया। आज, राजा साहब के यहाँ छप्पन प्रकार का स्वागत देख लें। उन्होंने कमण्डलु उठाया और चल पड़े।

चलते-चलते उन्होंने सिपाहियों से पूछ लिया– ''वहाँ क्या काम है?'' सिपाहियों ने बताया– ''आपकी फाँसी होगी।'' अब ब्रह्मचारीजी लगे

घबड़ाने। वह कहने लगे– ''भाई! हमने कोई पाप नहीं किया है, कोई अपराध भी नहीं किया है। हम तो केवल भजन करते हैं।'' सिपाहियों ने कहा– ''अपराध या पाप का प्रश्न नहीं है। कोतवाल साहब को फाँसी ढीली पड़ रही है, आपकी मोटी गर्दन में वह बैठ जायेगी।'' अब तो शिष्य चिल्लाया– ''गुरु महाराज! रक्षा कीजिए।''

गुरु महाराज समर्थ महापुरुष थे। जब उन्हें दिखायी पड़ा कि शिष्य संकट में पड़नेवाला है, वह समीप आ गये थे। तत्काल पहुँचकर उन्होंने शिष्य के कान में कहा– ''और खा ले रसगुल्ला!'' शिष्य ने कहा– ''महाराज! अब चना भी नहीं, चने का छिलका खाकर रह लेंगे। कृपया बचा लें।''

गुरु महाराज ने उसके कान में धीरे-से एक योजना बतायी कि ''बेटा! यह अंधेर नगरी है। वहाँ चलकर हमसे झगड़ना.....।'' पूरी योजना शिष्य समझ गया। ब्रह्मचारीजी फाँसी के तख्त तक पहुँचाये गये। राजासाहब का सिंहासन लग गया, सामन्त बैठ गये, जनता देख रही थी। फाँसी खुलेआम दी जाती थी।

गुरु महाराज राजा के पास पहुँचे और कहा– ''राजन्! यह मेरा शिष्य है। अन्तिम समय में क्या मैं इससे कुछ बातें कर सकता हूँ?'' राजा ने कहा– ''हाँ, हाँ! यह जो चाहे खा सकता है, किसी से बात कर सकता है।'' गुरुजी ने शिष्य के कान के पास कुछ कहा और सबको सुनाकर कहा– ''अच्छा बेटा जा! शान्ति से भजन कर! फाँसी पर हम चढ़ेंगे।''

शिष्य ने गुरु महाराज का चरण छूकर कहा– ''महाराज! यह तो अपने भाग्य का सौदा है। फाँसी पर तो हम ही चढ़ेंगे।'' गुरु ने कहा– ''कैसा मूर्ख है! तू शिष्य है कि कसाई! आज हमें जाने दो। तुम तो भजन करके भी इस लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे। हमारी बुढ़ौती देख! फाँसी पर तो हम ही चढ़ेंगे।'' चेला बोला– ''देखो, महाराज! बुढ़ौती और जवानी कुछ नहीं, यह तो भाग्य की बात है। फाँसी पर हम ही चढ़ेंगे।'' वह आपस में धक्का देने लगे।

राजा ने सोचा– फाँसी से सभी डरते हैं, काँपते हैं, ये झगड़ा क्यों करते हैं, वह भी महात्मा होकर! राजा ने दोनों को शान्त किया और कहा– ''ठीक है महाराजजी! आप ही फाँसी पर चढ़ जाइये लेकिन यह बतायें कि आप फाँसी पर चढ़ना क्यों चाहते हैं?'' जब गुरु महाराज ने देख लिया कि राजा अब रास्ते पर आ गया है तो बोले– ''राजन्! देखो देवलोक में शक्र (इन्द्र) की आयु अभी-अभी पूरी हुई है। उसका इन्द्रासन रिक्त है। इस फाँसी से जो जायेगा, वह सीधे इन्द्र पद पर बैठेगा। हमारी वृद्धावस्था है। उतना भजन नहीं कर पाता। यह अभी जवान है। भजन करके यह भी स्वर्ग पा सकता है लेकिन यह दुष्ट मान ही नहीं रहा है।'' मंत्री, जो बगल में ही खड़ा था, प्रार्थना किया कि ''हुजुर! हमें ही फाँसी पर चढ़ा दिया जाय।'' राजा ने कहा– ''राजा के रहते प्रजा बैकुंठ नहीं जा सकती। फाँसी पर हम चढ़ेंगे।'' वह फाँसी पर लटक गया।

महात्मा ने शिष्य से कहा– ''मूर्ख, अब तो भाग चल! अब यह बिना राजा का देश हो गया है, अब कुछ भी हो सकता है। अब यहाँ कोई कानून नहीं है। शीघ्र यहाँ से निकल चल।'' और वे निकल गये।

'सेवक को सतगुरु मिले'– आरम्भ में वह शिष्य था तो कमजोर पथिक; किन्तु सद्गुरु के संरक्षण में वह सुधर गया और गुरु महाराज के हाथ का यंत्र बनकर चलने लगा।

दुनिया में ऐसा कोई पापी नहीं है कि सद्गुरुओं की विद्या में चलकर भगवत्पथ की दूरी तय न कर ले। अंगुलिमाल से क्या बचा था? वह तो गौतम बुद्ध के ऊपर भी झपटा था किन्तु कालान्तर में वही बुद्ध के जीवन्मुक्त अरिहन्त शिष्य में अग्रगण्य था, प्राप्ति कर ले गया। बाल्मीकि से क्या छूटा था? वह दस्युओं का सरदार था। रत्नाकर! इतना डाका डाला कि डकैती का समुद्र तैयार कर दिया। जैसे अधिक विद्वान् को विद्यासागर की उपाधि मिली है, इतना बड़ा विद्वान् कि विद्या का सागर भर दिया। इसी प्रकार उसने इतना डाका डाला कि रत्नाकर नाम ही पड़ गया; किन्तु वही जब सप्तर्षियों से टकराये तो–

उलटा नामु जपत जगु जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

(मानस, 2/193/8)

उन्होंने ब्रह्म के समानान्तर स्थिति प्राप्त कर लिया। जो पाप के रसातल में खड़े थे, सब पाप धुल गये। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– ''अर्जुन! संसार के सभी पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला हो, ज्ञानरूपी नौका से वह निःसन्देह तर जायेगा।''

अतः लोगों को हताश नहीं होना चाहिए कि हमने तो बड़े पाप किये हैं। भला, हमारे ऐसे पापियों की सुनवाई क्यों होगी? अरे, प्रभु तो पाप का निवारण ही हैं। वह तो दुर्भाग्यशालियों के ही भाग्य हैं। हर परिस्थिति में केवल नाम स्मरण बना रहे। चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम याद आया करे तो सोने में सुगन्ध है। सुबह-शाम आधा घण्टा बैठकर समय अवश्य दिया करें। यह नियम खण्डित न हो। जो खण्डित ही हो जाय वह नियम कैसा? खाना-पीना, मर-मुकदमा, झूठ-फरेब सब आप करते ही हो, खाना-पीना, सोना-जागना, सब अनिवार्य है तो जिस कमी की पूर्ति के लिए दुर्लभ मानव-तन मिला है हम उसी को क्यों तिलांजलि दे देते हैं? इस आधे घण्टे के भजन से ही भजन की पूर्ति न समझें, हर समय नाम याद आया करे। भगवान जानते हैं कि जीव को क्या चाहिए? इसका हित किसमें है? वह सब मिलेगा। भजन प्रकाश का रास्ता है, अन्धकार की अटकल नहीं। आपके और प्रभु के बीच माया का आवरण हल्का होते ही भगवान पेड़ से बोलेंगे, पत्तियों से बोलेंगे, शून्य से बोलेंगे और आपके लिए मार्गदर्शक बनकर खड़े हो जायेंगे। वह परम चेतन सर्वत्र सुनते हैं, सर्वत्र देखते हैं किन्तु पूर्णत्व की प्राप्ति का साधन तभी जागृत होगा जब **'सेवक को सतगुरु मिले'**; बस फिर कोई तबाही नहीं रह जायेगी।

॥ ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

वह पुरुष **'उपद्रष्टा'**– हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **'परः'** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069 फोन - (022) 28255300
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com